मीमांसा

वानप्रस्थ, संन्यास आदि के कई नियम आज युगबाह्य हैं। जिससे वासना निवृत्ति हो, मूलतः वही ठीक है। जैसे ठंडी सहने में सारी शक्ति लगाना अच्छा नहीं है, अपितु आवश्यक वस्त्रों से शरीर को सुरक्षित रखकर सारी शक्ति वासना–निवृत्ति में लगाना अच्छा है। इसी ढंग से अन्य बातों पर भी समीक्षा करके विवेकवान साधना में लगन रखे।

. आत्मज्ञान और आत्मसाक्षात्कार की महत्ता

वेदव्यास कहते हैं–शरीर, इंद्रिय, मन आदि प्रकृति के विकार हैं। ये क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के आधार पर टिके हैं। ये जड़ हैं, अतएव ये क्षेत्रज्ञ को नहीं जानते, अपितु क्षेत्रज्ञ ही इन्हें जानता है। जैसे कुशल रथ–चालक घोड़ों को वश में रखकर उन्हें चलाता है, वैसे विवेकवान साधक इस शरीर को संयम से चलाये। इंद्रियों से विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से आत्मा श्रेष्ठ है। दूसरे ढंग से कहें तो महतत्त्व (बुद्धि) से अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है और अव्यक्त प्रकृति से श्रेष्ठ अमृत (आत्मा) है। अविनाशी आत्मा से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। श्रेष्ठता की पराकाष्ठा आत्मा है और आत्मा में स्थिति ही परमगति है, उच्चतम उपलब्धि है।

सभी देहों की हृदय–गुफा में छिपा हुआ आत्मा इंद्रियों से अदृश्य है। सूक्ष्मदर्शी महात्मा अपनी शुद्ध बुद्धि से उसका साक्षात्कार करते हैं। साधक अपने मन को आत्मा में लीन करे, अन्य चिंतन छोड़ दे और क्रियाशून्य हो जाय। जब साधक असमर्थ–निर्बल–अनहंकार होकर आत्मा में प्रशांत हो जाता है, तब अविनाशी अमृतपद में स्थित हो जाता है– *"अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततोऽच्छ्त्यमृतं पदम्* (,)।"

मन–इंद्रियों की लंपटता में फंसा मनुष्य अपना पतन करता है। इसलिए सारे संकल्पों का नाश करके मन को समाधिस्थ करे। समाहित चित्त का साधक शुभ–अशुभ से ऊपर उठकर आत्मनिष्ठ हो अक्षय सुख का भागी होता है। नींद में परम सुख है, वैसे स्थिर–मन में परम सुख है। जो साधक सोने के पहले तथा जागने के बाद मन को आत्मा में लगाता है, वह उसका साक्षात्कार कर लेता है। आत्मा का साक्षात्कार अनुमान और आगम (शास्त्र) से नहीं होता है। साधना की परिपक्वता में अनुभव द्वारा ही साक्षात्कार होता है। धर्म और सत्य के जितने भी आख्यान हैं यह ज्ञान उसका सारभूत धन है। ऋग्वेद की दस

हजार ऋचाओं का मंथन करके यह अमृत सार-तत्त्व निकाला गया है। जिसकी इंद्रियां संयमित नहीं, मन शांत नहीं, जिसमें भक्ति नहीं, निर्दोष दृष्टि नहीं, सरलता, आज्ञाकारिता नहीं, जो कुतर्क से दग्धचित्त है, चुगुलखोर है, वह इस ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

रत्नों से भरी हुई सारी पृथ्वी का मूल्य उपर्युक्त आत्मज्ञान के सामने कुछ नहीं है (अध्याय)।

आगे अध्याय में तत्त्व-प्रकृति और इंद्रिय-विषय का परिचय दिया गया है। इस अध्याय के अंत में मानसिकता पर तीनों गुणों का प्रभाव बताया गया है। मन में प्रसन्नता, शुद्ध भाव, अतिशय हर्ष, प्रेम, आनंद, समता, स्वस्थचित्तता आदि सात्विक गुण के लक्षण हैं। संताप, अभिमान, असत्यभाषण, लोभ, मोह, असहनशीलता आदि रजोगुण का प्रभाव है। मोहासक्ति, असूझ, किंकर्तव्यविमूढ़ता, प्रमाद, अज्ञान, आलस्य आदि तमोगुण का प्रभाव है (अध्याय)।

अगले अध्याय में बुद्धि की प्रधानता बतायी गयी है। जिसकी बुद्धि शुद्ध है वह इस जगत की परिवर्तनशीलता को स्वाभाविक समझता है, इसलिए वह कभी कहीं मोहित नहीं होता और हर्ष-शोक तथा राग-द्वेष नहीं करता। वह संसार में रहकर भी इसमें आसक्त नहीं होता। वह पहले के भूलजनित कर्म छोड़कर सदैव आत्मा में ही अनुराग रखता है। इसलिए वह सबका प्यारा हो जाता है। बुद्धि और आत्मा अलग-अलग हैं। आत्मा द्रष्टा है और बुद्धि दृश्य है (अध्याय)।

अगले अध्याय में बताया गया कि आत्मा नित्य है, ऐसा समझकर हर्ष, क्रोध तथा राग-द्वेष त्यागकर विचरण करे। साधक हृदय की अविद्या-ग्रंथि काटकर संदेह-रहित हो जाय और आत्मा में स्थित होकर सुखपूर्वक विचरे। जैसे तैरने वाला जलाशय पार करता है, वैसे विवेकी ही भवसागर से मुक्त होता है। ज्ञानी का शांतात्मा होना ही लक्षण है। ज्ञानी निर्भय हो जाता है। रोग और दुख अपने कर्मों का परिणाम समझकर, शोक छोड़कर, उन्हें सहना चाहिए (अध्याय)।

अगले अध्याय में संसार को भयंकर नदी बताकर आत्मसंयम द्वारा इसे पार होने का निर्देश किया गया है (अध्याय)।

आगे कहा गया-विषयों से दूर रहे, आभूषण न पहने, मान, यश, कीर्ति पाने की इच्छा न करे, वही ज्ञानवान है। संपूर्ण वेदों का अध्ययन

करे, गुरुसेवा में रहे, ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का पूरा ज्ञान प्राप्त कर ले और ब्रह्मचर्य व्रत से रहे, वही ब्राह्मण है। समस्त प्राणियों को परिवार के सदस्य मानकर उन पर दया करे। जो आत्मज्ञानी, कामना–शून्य तथा मृत्यु–भय से पार है, वही ब्राह्मण है। बड़े–बड़े यज्ञ करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अपितु जो अपने मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किसी प्राणी की बुराई नहीं करता; वह ब्राह्मण है। केवल कामना बंधन है। जो कामनाओं को त्याग देता है, वह ब्रह्मलीन हो जाता है।

"वेद का सार सत्य है, सत्य का सार संयम है, संयम का सार दान है और दान का सार तपस्या (सहनशीलता) है। तप का सार त्याग है, त्याग का सार सुख है, सुख का सार स्वर्ग है और स्वर्ग का सार शांति है।" संतोषपूर्वक शांति के उत्तम उपाय सत्वगुण को अपनाना चाहिए। सत्वगुण तृष्णा, शोक और संकल्पों को वैसे गला देता है जैसे गरम पानी चावल को।

शोक–शून्य, ममता–हीन, शांत, प्रसन्नचित्त, ईर्ष्या–रहित और संतोषी पूर्णतः ज्ञानतृप्त हो मुक्त हो जाता है। अकृत्रिम, अविनाशी, स्वभावसिद्ध, संस्कार–शून्य, शरीर में स्थित सुकृत को जो पा जाता है, वह अक्षय सुख का लाभ पाता है। मन स्थिर करके जो आत्मलीनता का सुख है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। जिससे बिना भोजन के तृप्ति मिलती है, बिना धन के संपन्नता रहती है और बिना घी खाये बल मिलता है, उस आत्मा को जो जानता है, वह वेदज्ञाता है। जो मन–इंद्रियों को स्ववश कर आत्मलीन है वह आत्माराम ब्राह्मण है। जो कामनाओं को त्यागकर परम आत्म तत्त्व में लीन है, उसका सुख अनंत है। जो सारे प्राणी–पदार्थों का मोह त्याग देता है, उसका दुख वैसे नष्ट हो जाता है, जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार नष्ट हो जाता है। जो सारे मोह–बंधन को त्यागकर सदैव समता में जीता है, वह शरीर में रहकर भी अशरीरी है (अध्याय)।

मीमांसा

सुख का सार स्वर्ग बताया गया। यह स्वर्ग काल्पनिक स्वर्गलोक का घृणित विषयभोग नहीं है, अपितु अपने आप में तृप्त हो जाना है।

. **वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्योस्योपनिषद् दमः।**
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः
तपसोपनिषत् त्यागस्त्यागस्योपनिषत् सुखम्।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः अध्याय , श्लोक –

. वैराग्य-कुल्हाड़ी से काम-वृक्ष काटकर मोक्ष की प्राप्ति तथा मृत्यु प्रकृति का उत्तम विधान

वेदव्यास दो सौ बावन ( )वें अध्याय में बताते हैं कि जड़ तत्त्वों के कार्यों का पसारा शरीर तथा संसार है। इनका ज्ञाता जीव है– *"जीवः क्षेत्रज्ञसंज्ञकः* (,)।" जो मनुष्य इन सारे शरीरों को कालात्मक भावों से युक्त देखता है, वह मोह नहीं करता।

दो सौ तिरपन ( )वें अध्याय में बताया गया है कि योगी एवं विवेकवान समझते हैं कि शरीर से जीवात्मा भिन्न, चेतन और अविनाशी है। वह कर्मवासनावश शरीरों को धारण करता और छोड़ता है और दुख की यात्रा में पड़ा रहता है। जीव माता के गर्भ में नौ-दस महीने रहता है, परंतु भोजन की तरह वह गल नहीं जाता है; क्योंकि वह अविनाशी है। आत्मा अमर है, प्राणियों के शरीर में स्थित है, किंतु विवेकहीन लोग उसे समझ नहीं पाते। मोक्ष की इच्छा वाले योगीजन शरीर की आसक्ति जीतकर ऊपर उठ जाते हैं।

वेदव्यास दो सौ चौवन ( )वें अध्याय में कहते हैं कि मनुष्य के हृदय में काम रूपी वृक्ष है जो मोह से उत्पन्न है। क्रोध और अभिमान उसके स्कंध हैं। तृष्णा उसे सींचने का जल-पात्र है। अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद उसको सींचने वाला जल है। परदोषदर्शन उसके पत्ते हैं और पूर्वजन्मों का पाप उसका सार भाग है। शोक उसकी शाखा, मोह और चिंता टहनियां हैं। उसमें वासनाओं की लताएं हैं। लोभी मनुष्य सुदृढ़ वासना रूपी लौह-सांकल में बंधे उसमें लिपटे हैं। जो इस काम-वृक्ष को वैराग्य की कुल्हाड़ी से काट डालता है, वह जन्म, जरा, मृत्यु के दुखों से छूट जाता है। जो मूर्ख मनुष्य इस काम-वृक्ष पर चढ़कर इसका फल खाना चाहता है उसे वह वैसे ही मार डालता है जैसे खायी हुई विष की गोली खाने वाले को मार डालती है। इस काम-वृक्ष की जड़ें गहराई तक फैली हैं। कोई विवेकवान इन्हें समता की तलवार से काट डालता है। जो कामनाओं को दूर करने का उपाय जानता है और काम-शास्त्र को बंधन करके समझता है, वह उनसे हटकर दुखों से पार हो जाता है। इस शरीर रूपी नगरी में मन, बुद्धि, इंद्रियां, विषय आदि का निवास है। विवेकवान रजो-तमो गुणों को तथा मन-इंद्रिय आदि को जीतकर दुखों से मुक्त हो जाता है।

दो सौ पचपन ( )वें अध्याय में भी पंचभूतों तथा मन-बुद्धि के गुणों की चर्चा की गयी है।

युधिष्ठिर ने पूछा–पितामह! बड़े-बड़े शूरवीर नरेश मरकर लापता हो जाते हैं। यह मृत्यु क्या है?

भीष्म ने कहा–पृथ्वी पर जब प्रजा बहुत बढ़ गयी, कहीं खड़े होने के लिए तथा सांस लेने की जगह नहीं रह गयी, तब ब्रह्मा जी बहुत चिंतित हुए। उनके कोप से दुनिया उत्तप्त हो गयी। महादेव जी ने आकर उनको शांत होने के लिए प्रार्थना की। अंततः ब्रह्मा जी के शरीर से एक युवती स्त्री पैदा हुई, ब्रह्मा ने उसे 'मृत्यु' नाम दिया और उससे कहा कि तुम प्राणियों को समय-समय से मारती रहो। युवती ने यह दारुण काम करने को नहीं स्वाकारा। ब्रह्मा जी ने उसे पुनः-पुनः समझाया। वह तपस्या में लग गयी। उसने खरबों हजार वर्ष तप किया। अंततः ब्रह्मा के समझाने से उसने मान लिया।

ब्रह्मा जी ने समझाया कि लोग बीमार होंगे, दुर्बल एवं जरजर होंगे, तो उनको मरने की आवश्यकता होगी। तुम्हें उनको मारने में कोई पाप नहीं होगा। अंततः उस युवती ने प्राणियों को मारने का काम ले लिया। यह कथा तीन अध्यायों में चलकर पूरी हुई (अध्याय –)।

मीमांसा

मृत्यु-उत्पत्ति की कहानी कल्पित है। मृत्यु कोई प्राणी नहीं है। निर्मित वस्तु मिटती है, यह प्राकृतिक नियम है। यदि जन्म हो और मृत्यु न हो तो संसार में पैर रखने की भी जगह न रह जाय। इसलिए मृत्यु आवश्यक है।

वस्तुतः मानव-शरीर कल्याण-साधन-भूमिका है। इसमें रहकर साधना द्वारा सारी जगत-वासनाओं को नष्ट कर स्वस्वरूप में स्थित हो जाना चाहिए। इसके बाद शरीर की कोई आवश्यकता नहीं है। संसारी वासना वालों को भी मरना आवश्यक है। वे पुराने जीर्ण शरीर छोड़कर नया ताजातवाना शरीर धारणकर अपना काम करें। इसलिए मृत्यु सबके लिए आवश्यक है।

. धर्म के विषय में संशय, जाजलि का अभिमान, तुलाधार के वक्तव्य में सबका शमन

युधिष्ठिर ने दो सौ उनसठ ( )वें अध्याय में पूछा–पितामह! मनुष्य प्रायः धर्म के विषय में संशयग्रस्त रहते हैं। अतएव आप धर्म के तत्त्व को बतायें।

भीष्म ने कहा–वेद, स्मृति और सदाचार धर्म की बात बताते हैं। कुछ विद्वान अर्थ को भी धर्म का चौथा लक्षण बताते हैं। महर्षियों ने लोक-यात्रा के लिए धर्म की व्यवस्था की है। धर्म से लोक-परलोक दोनों में कल्याण है। धर्महीन दुख पाता है। धर्माचरण करने वाले कष्ट के समय भी धर्म नहीं छोड़ते। सदाचार ही धर्म का आधार है। चोर धर्म-कार्य करते हुए भी चोरी करता है। वह वैसा करने में सुख मानता है। परंतु जब चोर का धन भी चुरा जाता है, तब वह चोरों को दंड देने वाले राजा की आवश्यकता का अनुभव करता है। इस दशा में वह अपने ही धन में संतुष्ट रहना अच्छा मानता है। निर्मल मन का मनुष्य सर्वत्र निर्भय रहता है। सत्य वचन बोलना उत्तम है। सत्य से बढ़कर कुछ नहीं है। सत्य में ही सबकी प्रतिष्ठा है। क्रूर मनुष्य भी अपने-अपने ढंग से सत्य की शपथ लेकर विवाद से बचना चाहते हैं। वे भी अपने-अपने कर्म सत्य की दोहाई देकर ही करते हैं। यदि दुष्ट लोग भी आपस की शपथ भंग कर दें, तो वे परस्पर लड़-कटकर मर जायंगे। दूसरे के धन का अपहरण न करना सनातन धर्म है।

कुछ शक्तिशाली लोग मानते हैं कि धर्म निर्बलों का चलाया हुआ है, परंतु जब वे स्वयं दुर्भाग्यवश दुर्बल हो जाते हैं, तब वे भी धर्म का सहारा खोजते हैं। कोई व्यक्ति न अत्यंत बलवान होता है और न अत्यंत सुखी। अतएव मनुष्य अपने में कभी कुटिलता न लाये। जो मन, वाणी तथा कर्म से किसी का अहित नहीं करता, वह सब समय सब जगह निर्भय रहता है। चोर सबसे डरता है। उसे अपना प्रतिबिंब अन्य में भी दिखता है। शुद्ध आचार-विचार वाले को कहीं से कोई खटका नहीं होता है। वह सदैव प्रसन्न और निर्भय होता है। वह दूसरों में दुष्कर्म नहीं देखता। महान पुरुषों ने दान करने का विधान किया है, परंतु बहुत-से धनवान इसे दरिद्रों का चलाया हुआ मानते हैं। यदि वे स्वयं दुर्भाग्य-वश दरिद्र हो जायं तो उन्हें भी दान का महत्त्व समझ में आता है। दुनिया में न कोई अत्यंत धनवान होता है और न अत्यंत सुखी।

जो व्यवहार अपने को प्रिय नहीं लगता, वह दूसरों के साथ न करे। जो स्वयं व्यभिचारी है वह दूसरे के व्यभिचार का विरोध कैसे कर सकता है? आश्चर्य है कि लोग स्वयं जीवित रहना चाहते हैं, परंतु वे दूसरे के प्राण लेना चाहते हैं। मनुष्य जो सुख-सुविधा स्वयं चाहे, वह दूसरे के लिए भी वैसा सोचे। जो वस्तुएं अपनी आवश्यकता से अधिक हैं, उन्हें गरीबों में बांट देना चाहिए। अच्छे लोग जिन आचरणों से चलें, उन पर हमें भी चलना चाहिए। धन-उपार्जन के समय संयम बरतना चाहिए। सार बात है कि दूसरे के साथ

प्रेमपूर्ण बरताव करके जो कुछ प्राप्त हो, वह धर्म से उपार्जित माना जायगा। महापुरुषों ने पूर्वकाल में जिन उत्तम आचरणों का विधान किया है, वह धर्म है। किसी तरह कुटिल भावना तथा कुटिल आचरण न करे।

दो सौ साठ ( )वें अध्याय में युधिष्ठिर ने कहा–धर्म सर्वोच्च है, परंतु धर्म केवल वेद–पाठ से नहीं समझा जा सकता। जो मनुष्य अच्छी दशा में है, उसका धर्म दूसरा है और जो संकट में है उसका धर्म दूसरा है। केवल वेद–पाठ से कैसे जाना जा सकता है कि मनुष्य आपत्तिकाल में कैसा बरताव करे। आप कहते हैं कि महापुरुषों का आचरण धर्म है और जिनमें धर्माचरण है, वे ही सत्पुरुष हैं। ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष होने से साध्य और असाध्य का विवेक कैसे किया जाय? अतएव ऐसी स्थिति में सदाचार धर्म का लक्षण नहीं हो सकता। कितने लोग धर्मवान दिखते हुए अधर्म करते हैं, कितने लोग अधर्म प्रतीत होने वाले काम करते हुए धर्मवान होते हैं। अतएव केवल बाह्य आचरण से धर्म–अधर्म का निर्णय नहीं हो सकता।

शास्त्रज्ञ पुरुषों ने धर्म के लिए वेदों का प्रमाण बताया है; परंतु हम यह भी सुन रहे हैं कि युग–युग में वेदों का ह्रास हो रहा है। अर्थात वेद–प्रतिपादित धर्म बदलता रहता है। पंडित ही चारों युगों के धर्म अलग–अलग बताते हैं। लगता है कि मुनियों ने मनुष्यों की शक्ति के अनुसार धर्म की व्यवस्था की है। वेदों के वचन सत्य हैं, यह संसार के लोगों को खुश करने के लिए कहा गया लगता है। कहते हैं कि वेदों से ही स्मृतियों का प्रचार हुआ है। इसलिए यदि संपूर्ण वेद प्रामाणिक हैं तो स्मृतियां भी प्रामाणिक होना चाहिए; परंतु यदि वेद ही अप्रमाणिक सिद्ध होने लगें तो उनके आधार में बनी स्मृतियां प्रामाणिक कैसे हो सकती हैं? यदि स्मृति का श्रुति के साथ विरोध हो तो उसमें शास्त्रत्व कैसे प्रामाणिक होगा?

धर्म के अनुष्ठान में शक्तिशाली दुराचारी विकार पैदा करते हैं, इससे उसकी धर्म–मर्यादा भ्रष्ट हो जाती है। हम धर्म को जानें या न जानें वह छूरे की धार से भी सूक्ष्म है और पर्वत से भारी है। धर्म के विषय में बात करने पर यह गंधर्व नगर की तरह (दिखावा मात्र) प्रदर्शित होता है, परंतु विद्वानों के द्वारा विचार करने पर धर्म अदृश्य हो जाता है। जैसे थोड़े पानी–पात्र में गायों के जल पी लेने पर वह पात्र सूख जाता है और जैसे अधिक खेतों की सिंचाई करने पर नहर सूख जाती है, वैसे सनातन वैदिक धर्म तथा स्मृति धर्म अदृश्य हो जाते हैं। लोग नाना कारणों, स्वार्थ तथा आत्म प्रदर्शन करने के लिए धर्म का ढोंग एवं दिखावा करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों में जो यथार्थ धर्म होता है, वही मूढ़ मनुष्यों में

बकवास बनकर रह जाता है। वे मूढ़ मनुष्य सच्चे लोगों को पागल कहकर उनकी हंसी उड़ाते हैं। द्रोणाचार्य जैसे महापुरुष भी अपने धर्म को छोड़कर क्षत्रिय-धर्म का आधार लेते हैं। इसलिए कोई भी ऐसा आचरण नहीं होता है जो सबके लिए समान रूप से उपयुक्त हो। उसी धर्म का नाम लेकर कोई पवित्र आचरण से रहता है और उसी धर्म का नाम लेकर कोई लूटखसोट तथा हत्या और सामूहिक हत्या करता है। जिस धर्म को अपनाकर एक मनुष्य आत्मिक उन्नति करता और शांति पाता है, उसी धर्म का आधार लेकर दूसरा व्यक्ति दूसरों को पीड़ा देता तथा जीवहत्या करता है। इसलिए सबके लिए एक रूप धर्म का दर्शन नहीं होता है। आपने पुराकाल से प्रचलित धर्म का वर्णन किया है जिसका आचरण लोग पहले से करते आये हैं। मैं भी यही समझता हूं कि उसी धर्म से समाज में मर्यादा स्थिर रह सकती है।

भीष्म ने कहा–जाजलि नाम के ब्राह्मण थे। वे वेदपाठी थे, समुद्र तट पर घोर तपस्या करते थे। उनकी जटा में पक्षी ने घोंसला बनाकर अंडे दे दिये, परंतु जाजलि को पता न चला, ऐसा वे तपस्या-लीन थे। उन्हें अभिमान हुआ कि मेरे समान महान धर्मात्मा कोई नहीं है। तब वहां के रहने वाले राक्षसवंशियों ने कहा–ब्रह्मन! काशी में तुलाधार नाम का धर्मात्मा बनिया है, वह आपकी तरह धर्म की डींग नहीं हांकता। उक्त बातें सुनकर जाजलि काशी गये और तुलाधार से उन्होंने पूछा कि आपकी सिद्धि की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है। कृपया आप अपनी धर्म-साधना बताने का कष्ट करें।

तुलाधार ने कहा–जिस धंधे में किसी प्राणी का द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करना पड़े, वही धर्मयुक्त जीवन-वृत्ति है। मैं चंदन, काठ, गंध-द्रव्य आदि खरीदकर बेचता हूं। मैं मदिरा नहीं बेचता। हमारे यहां अन्य सात्विक पेय बेचा जाता है। मैं कोई माल बेचने में असत्य तथा छल-कपट का व्यवहार नहीं करता। जो सबका हित सोचता तथा यथाशक्ति हित करता है, वही सच्चा धार्मिक है। मैं न किसी का अनुरोध करता हूं और न विरोध। मैं न किसी से कोई कामना रखता हूं और न द्वेष। मेरा समस्त प्राणियों के प्रति समभाव है। मेरी तराजू सबके लिए बराबर तौलती है। मैं आकाश की तरह असंग एवं निर्लिप्त रहता हूं। मैं संसार की विचित्रता देखकर न किसी की निंदा करता हूं और न प्रशंसा। मैं सबमें समता का बरताव करता हूं और मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना को बराबर समझता हूं।

जैसे अंधे, बहरे तथा पागल केवल सांस लेते हैं; वैसे ही मैं सबका द्रष्टा रहकर सबसे उदास रहता हूं। अर्थात मैं देखता हुआ नहीं देखता, सुनता हुआ

नहीं सुनता और जानता हुआ नहीं जानता। मैं सदैव सबका द्रष्टा होकर रहता हूं। मैं धन और भोग की इच्छा से रहित हूं। जब मनुष्य दूसरे से भय नहीं करता और उससे कोई भय नहीं पाता और जब वह इच्छा और द्वेष से सर्वथा मुक्त होता है, तब वह ब्रह्म ही है। जब मनुष्य दूसरे प्राणियों से मन, वाणी और कर्म से बुरी भावना नहीं रखता है, तब वह ब्रह्म है, महान है। जिसका न कोई भूतकाल का कार्य है और न भविष्य का, जिसको धर्म–कार्य करना शेष नहीं है और जो सबको अभयदान करता है, वह स्वयं निर्भय–पद में स्थित है।

जो कटुभाषी है, जिससे लोग मौत की तरह डरते हैं, जो दंड देने में कठोर है, उसे स्वयं सदा भय का सामना करना पड़ता है। मैं सदा सदाचारी, वृद्ध एवं हिंसा–रहित लोगों का अनुगमन करता हूं। दुराचार करने वाले का कर्म नष्ट हो जाता है। दूसरे से द्रोह न करने वाला सदाचारी मनुष्य धर्ममय है। नदी में बहते हुए काठ जैसे एक–दूसरे से सहज मिलते–छुटते रहते हैं, वैसे संसार–सागर में प्राणियों का मिलना–बिछुड़ना है। जो मनुष्य कभी किसी से उद्वेगित नहीं होता, वह स्वयं निर्भय रहता है और दूसरों को निर्भयता प्रदान करता है। जैसे हिंसकी जंतु से लोग डरते हैं, वैसे जिस मनुष्य से लोग डरते हैं, वह स्वयं सदैव भयभीत रहता है। जो सबको अभयदान करता है वह सदा सुखी रहता है।

प्राणियों की हिंसा न करना परम धर्म है। जिससे कोई प्राणी उद्वेगित नहीं होता, वह स्वयं निर्भयपद में स्थित होता है। जैसे घर में रहने वाले सर्प से लोग डरते हैं, वैसे जिस मनुष्य से लोग डरते हैं, वह लोक–परलोक कहीं शांति नहीं पाता। जो मनुष्य सबका आत्मा हो गया और सभी प्राणियों को अपने समान देखता है वह ब्रह्मस्वरूप है, महान है। धर्म का स्वरूप सूक्ष्म है। उसे सब नहीं समझ पाते; क्योंकि उस पर अनेक परदे हैं। उत्तम आचरण संपन्न पुरुषों को देखकर मनुष्य धर्म को समझता है।

लोग जानवरों को पकड़कर उनको बधिया (हिजड़ा) करते, उनकी नाक छेदकर उन्हें नकेल लगाते और उन्हें बांधकर उनका दमन करके उनसे काम लेते, बोझा ढुलवाते, उन्हें हल तथा गाड़ी में जोतते हैं। कितने लोग अनेक जीवों को मारकर खा जाते हैं। स्वयं मनुष्य होकर लोग दूसरों को गुलाम बनाते हैं और उनसे परिश्रम करवाते तथा उसका फल स्वयं भोगते हैं। लोग जानते हैं कि बध और बंधन से प्राणी को कितना कष्ट होता है, लेकिन वे दूसरे का बध और बंधन करते हैं और उनसे रात–दिन काम लेते हैं। तुम उनकी निंदा क्यों नहीं करते हो? जो प्राणियों को बेचकर जीविका चलाते हैं, वे अधर्मी हैं और जो जीवों को मारकर बेचते हैं, उन्हें क्या कहा जाय?

किंतु जाजलि! तेल, घी, शहद और औषधियों की बिक्री में क्या हर्ज है? कुछ लोग खेती करना अच्छा मानते हैं, परंतु यह भी दारुण कर्म है। हल चलाने से पृथ्वी में रहने वाले जीव मरते हैं। हल में बैल जोते जाते हैं। उनकी दुर्दशा देखो। गाय अघ्न्या है, अतएव जो लोग गाय-बैल को मारते हैं, वे महान पाप करते हैं। लोग धर्म के नाम पर प्राणियों का वध करते हैं। इस प्रकार जगत में भयंकर काम होता है। लोग उसे कहते हैं कि ऐसा पूर्वजों द्वारा किया जाता रहा है, इसलिए करना चाहिए; यह अंधानुकरण है। वे बुद्धिमान होकर इस बुराई पर ध्यान नहीं देते। विचार करके वही काम करना चाहिए जिसमें किसी प्राणी को दुख न हो। अंधानुकरण में नहीं पड़ना चाहिए।

जो मेरा निरादर करता या मारता है और जो मेरी प्रशंसा करता है, वे दोनों मेरे लिए बराबर हैं। उनमें कोई मेरे लिए प्रिय-अप्रिय नहीं है। ऐसी रहनी में रहना ही सच्चा धर्म है। संतजन इसी रहनी में रहते हैं।

जाजलि ने कहा–बनिया महोदय! तुम तो हाथ में तराजू लेकर स्वर्ग का द्वार ही बंद कर रहे हो। यदि पशुओं के कष्ट समझकर खेती न की जाय तो संसार का व्यवहार ही नहीं चल सकता। खेती करने से ही अन्न होता है। वही अन्न तुम भी खाते हो। यदि अन्न न पैदा किया जाय तो तुम्हारी तराजू धरी रह जायगी। यज्ञ के लिए पशुवध शास्त्रों से मान्य है और यज्ञ से स्वर्ग मिलता है।

तुलाधार ने कहा–मैं नास्तिक नहीं हूं। मैं तुम्हें ऐसा यज्ञ बताऊंगा जिसमें जीवहिंसा नहीं करना पड़ता। ब्राह्मणों के लिए जिस यज्ञ का विधान है, वह प्रशंसनीय है, किंतु खेद है कि आजकल ब्राह्मण लोग अपने यज्ञ का त्यागकर क्षत्रियोचित यज्ञ में लग गये हैं। कितने धन कमाने के लिए यज्ञ करने का आडंबर करते हैं। लोभी पुरोहित और यजमान की परंपरा भी वैसी ही चलती है। दुष्ट, धूर्त और लोभी यज्ञ के नाम से भ्रष्टाचार करते हैं।

पहले के ब्राह्मण सत्यभाषण और इंद्रिय-संयम रूप यज्ञ करते थे। वे मोक्ष की अभिलाषा रखते थे। वे लौकिक धन की इच्छा नहीं रखते थे। वे आत्मसंतुष्ट होते थे। वे त्याग परायण तथा ईर्ष्या-द्वेष से शून्य होते थे। वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, अर्थात जड़-चेतन के तत्त्व को जानने वाले आत्मपरायण होते थे। वे उपनिषदों के अध्ययन में तत्पर, स्वयं संतुष्ट तथा दूसरों को संतोष की राय देते थे। वे ज्ञानतृप्त तथा नित्यतृप्त होते थे। ऐसा कोई प्रज्ञावान पुरुष ही भवसागर से पार होता है। आत्मज्ञानी ब्राह्मी स्थिति को पसंद करते हैं, वे स्वर्ग की इच्छा नहीं रखते। वे यश और धन के लिए यज्ञ नहीं करते। वे सत्पुरुषों के पथ पर चलते हैं और हिंसा-रहित यज्ञ करते हैं। वे वनस्पति, अन्न और फल-

मूल को हवन–सामग्री मानते हैं। ज्ञानी ब्राह्मण स्वयं को यज्ञ का उपकरण मानकर मानसिक यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं जिसमें सबका हित है। कामनाओं में आसक्त लोगों का संसार में पुनः जन्म होता है। आत्मज्ञानी का पुनः जन्म नहीं होता। अतएव लोग अन्न आदि द्वारा ही यज्ञ कर सकते हैं। उसमें प्राणिहत्या की आवश्यकता ही नहीं है। परंतु लोभी और मूढ़ लोग ऐसा नहीं समझते। स्तुति–निंदा से रहित ज्ञानी समता में बरताव करता है। सकामी जीव भटकते हैं, निष्कामी मुक्त होते हैं।

जाजलि ने कहा–वणिकप्रवर! जो तुमने आत्मयज्ञ का वर्णन किया है इस मोक्षदायी यज्ञ का वर्णन मैंने कभी नहीं सुना। शायद इसे समझना और करना कठिन भी है। पूर्वकाल के ऋषियों ने इस पर विचार नहीं किया है। जिन्होंने इस पर विचार किया है, उन्होंने भी यह उत्तम होते हुए भी इसकी स्थापना, प्रर्वतन एवं प्रचार नहीं किया। मूढ़ लोग आपका बताया आत्मयज्ञ नहीं जानते। उनका कल्याण कैसे होगा?

तुलाधार ने कहा–विवेकवान घी, दूध, दही आदि से ही यज्ञ करते हैं। असमर्थ लोग तो गायों की पूंछ के बाल स्पर्श से, उसके सींग के जल से तथा पैर की धूल से ही यज्ञ पूरा कर लेते हैं। आत्मा ही श्रेष्ठ तीर्थ है। अतएव तीर्थ के लिए जगह–जगह भटकने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार तुलाधार ने हिंसा–रहित यज्ञ की प्रशंसा की।

इसके बाद जाजलि को पक्षियों ने उपदेश दिया, क्योंकि वे पहले उनकी जटा में आश्रय पाये थे। पक्षियों ने कहा–जाजलि! अहिंसापूर्ण कर्म ही लोक–परलोक में सुखदायी होता है। हिंसा की भावना श्रद्धा को नष्ट करती है। समता, श्रद्धा तथा शुद्ध चित्त असली यज्ञ है। श्रद्धा, शील, सदाचार और आत्मचिंतन द्वारा कल्याण प्राप्त होता है।

मीमांसा

जाजलि की जटा में पक्षी का घोंसला बनाने आदि का अतिशयोक्ति कथन और उनका धर्म तथा तपस्या को लेकर अभिमान होना और वाराणसी के एक बनिया द्वारा उनके परास्त होने की कथा यह दिखाने के लिए है कि शुष्क वेदपाठ और तपस्या से काम चलने वाला नहीं है, किंतु धर्म का व्यावहारिक स्वरूप होना चाहिए। युधिष्ठिर द्वारा धर्म के विषय में संशय तथा जाजलि के अभिमान आदि सबका शमन तुलाधार के कथन में आ जाता है।

वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं–''तुलाधार ने श्लोकों के संवाद में जिस धर्म की व्याख्या की, उसमें यज्ञ का कोई उल्लेख न था। ज्ञात होता है कि यह कम या अधिक बौद्ध धर्म के ही उपदेशों का एक संस्करण था। इस पर जाजलि ने पूछा कि यह तुम्हारा सिखाया हुआ धर्म है। यदि इसे हम मान लें, तो स्वर्ग का द्वार बंद हो जायगा। इस पर तुलाधार ने कहा, 'मैं नास्तिक नहीं हूं, न यज्ञ की निंदा करता हूं, किंतु जो विशुद्ध प्रज्ञाधर्म है, जो सम्यक वृत्ति है, जो सम्यक कर्म, सम्यक वाणी और सम्यक धर्म है, उसी की व्याख्या करता हूं।' ज्ञात होता है, तुलाधार की अधिकांश शिक्षा बौद्धों के ग्रंथ धम्मपदं से संकलित की गयी है।''

दो सौ साठ ( )वें से दो सौ चौसठ ( )वें चार अध्यायों तथा श्लोकों में जाजलि की कथा आती है जिसमें तुलाधार का वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है। यहां केवल दो श्लोक स्मरण के लिए लें–''जैसे घर में रहने वाले सर्प से सब भय खाते हैं, वैसे जिस मनुष्य की कटुता से सब डरते हैं, वह मनुष्य इस लोक और परलोक में भी कभी धर्म का फल शांति नहीं पाता। जो सर्व प्राणियों का आत्मा हो गया है और संपूर्ण प्राणियों को अपने से अभिन्न समझता है, उसके पदचिह्न खोजने में देवता भी असमर्थ हो जाते हैं। अर्थात जो प्राणिमात्र के प्रति दयासागर है, वह धन्य है।'' यथा–

यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव।
न स धर्ममवाप्नोति इहलोके परत्र च
सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः

(महाभारत, शांति पर्व, अध्याय)

. हिंसा–पूर्ण पूजा महा पाप है, राजा विचख्नु

भीष्म ने कहा–पुराना इतिहास है। एक थे राजा विचख्नु। उन्होंने समस्त प्राणियों के लिए दया का उद्‌गार प्रकट किया था। राजा ने एक समय यज्ञशाला में देखा कि एक बैल की गरदन काट दी गयी है और वहां बहुत–सी गायें पीड़ा से चिल्ला रही हैं– *'विलापं च गवां भृषम्* (,)।' बहुत गायें यज्ञशाला में बंधी हैं। राजा विचख्नु ने कहा–'संसार की सभी गायों का कल्याण हो।' जब

. **भारत सावित्री, पृष्ठ ।**

उन गायों को यज्ञ के नाम पर काटा जाना था, राजा ने हिंसा का निषेध करते हुए कहा–धर्ममर्यादा से भ्रष्ट, मूढ़, नास्तिक, संशयशील तथा कूएं के मेढक–जैसे संकुचित बुद्धि के लोग ही धर्म, यज्ञ अथवा ईश्वर और देवता को खुश करने के नाम पर जीवहिंसा करते हैं। धर्मात्मा मनु ने सभी कर्मों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी भ्रमजनित कामनाओं से ही यज्ञवेदी पर पशुओं को काटता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि समस्त धर्म–कार्य पर सूक्ष्मता से स्वयं विचार करे। सभी प्राणियों के लिए जो धर्म का विधान है, उसमें अहिंसा ही श्रेष्ठ मानी गयी है– *"अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता* (,)।"

मनुष्य संयम का कठोर व्रत पालन करे और वेदों के हिंसापूर्ण आदेशों का त्यागकर दे– *"हित्वा वेदकृताः श्रुतिः* (,)।" क्षुद्रबुद्धि के लोग स्वर्ग फल प्राप्ति की मिथ्या आशा करके सदाचार के नाम पर हिंसा रूपी अनाचार करते हैं– *"आचार इत्यनाचारः कृपणाः फलहेतवः* (,)।" यदि यह कहा जाय कि मनुष्य पेड़ काटकर यूप (खूंटे) गाड़ता है। उनमें पशुओं को बांधता है। उसके बाद उन्हें मारकर हवन करता है और उनका मांस खाता है, यह व्यर्थ नहीं है, अपितु वैदिक विधि से मान्य है, तो ऐसे धर्म की प्रशंसा नहीं की जा सकती। शराब, मछली, मधु, मांस, आसव तथा तिल और चावल की खिचड़ी धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। यह सब वेदों का विधान नहीं है। धूर्तों ने अभिमान, मोह और लोलुपता से ही यह सबका प्रचलन किया है। ब्राह्मण तो विष्णु भगवान को ही सभी यज्ञों में पूजा का देवता मानता है और खीर तथा फल–फूल से उनकी पूजा करता है। वेदों में वनस्पतियों को ही हवन सामग्री बताया गया है।

युधिष्ठिर ने कहा–पितामह! हिंसा से अत्यंत दूर रहने वाले का शरीर और आपत्तियां आपस में विवाद करने लगती हैं। आपत्तियां शरीर को सुखाती हैं और शरीर आपत्तियों का नाश करना चाहता है। यदि सूक्ष्म हिंसा से भय मानकर खेती करना, मकान बनाना, भोजन पकाना, नहाना, पथ चलना, बोलना आदि किसी काम का आरंभ न किया जाय, तो शरीर–यात्रा कैसे चल सकती है?

भीष्म ने कहा–युधिष्ठिर! काम ऐसा करना चाहिए कि जिससे शरीर दुर्बल न हो और वह मौत के मुख में न चला जाय; क्योंकि शरीर के सुरक्षित तथा समर्थ होने से ही धर्म की साधना की जा सकती है (अध्याय)।

मीमांसा

इस अध्याय का लेखक वैष्णव है। वैष्णव अहिंसक और शुद्ध शाकाहारी होते हैं। उसने निर्भय होकर हिंसापूर्ण यज्ञ करने वालों को फटकारा और दुत्कारा है। फिर अपनी बात बता दी है कि यज्ञ के परम देवता विष्णु भगवान हैं जिनकी पूजा खीर तथा फल-फूल से होती है। परंतु ध्यान रहे कि चतुर्भुज विष्णु पौराणिक है। वैदिक विष्णु सूर्य है जिसकी किरणें सब में प्रविष्ट होती हैं। *'विष्'* धातु से विष्णु शब्द बनता है। *'विष्'* का तात्पर्य है प्रवेश करना। सूर्य की किरणें सब में प्रविष्ट होती हैं, इसलिए वह विष्णु है। अंततः यह सच है कि धर्म के नाम पर और तथाकथित ईश्वर तथा देवताओं को खुश करने के लिए निरीह प्राणियों की हत्या करना भयंकर पाप है।

अंत में युधिष्ठिर का प्रश्न बड़ा मार्मिक है कि यदि सूक्ष्म हिंसा के डर से कुछ किया ही न जाय, केवल हाथ-पैर बटोरकर बैठा रहे तो जीवन-निर्वाह कैसे होगा? भीष्म का उत्तर भी उचित है कि ऐसा काम करे कि शरीर-रक्षा ठीक से हो। शरीर जीवित और स्वस्थ रखकर ही धर्म-साधना संभव है। इसका अर्थ यही है कि प्राणियों को किसी बहाने मारकर खाना गलत है। खेती, व्यवसाय तथा शरीर-निर्वाह का काम करे और उसमें यथाशक्ति जीव-हिंसा से अपने को बचाये। खेती करने वाले तथा शरीर का व्यवहार करने वाले का उद्देश्य जीव-हिंसा नहीं है।

. चिरकारी की प्रशंसा, सोच-समझकर काम करना चाहिए

महर्षि गौतम के कई पुत्र थे। उनमें एक था जो चिरकाल तक अर्थात बहुत समय तक विचारकर बोलता और काम करता था। इसलिए उसका नाम चिरकारी पड़ गया था। कुछ नासमझ लोग उसे आलसी मानते थे, किंतु बहुत सोचकर काम करने वाला होने से उसे कभी पश्चाताप नहीं करना पड़ता था।

एक दिन गौतम ने चिरकारी से कहा कि तुम्हारी माता व्यभिचार-दोष से दूषित हो गयी है, इसलिए इसे मार दो। गौतम तो वन में चले गये, किंतु चिरकारी सोच में डूब गया। उसने सोचा कि मैं कौन-सा उपाय निकालूं कि पिता की आज्ञा का पालन हो जाय और माता की हत्या न हो। पिता की आज्ञा का पालन करना धर्म है, किंतु माता की रक्षा करना महान धर्म है। पुत्र कभी स्वतंत्र नहीं होता। वह माता-पिता के अधीन रहता है। एक तो स्त्री, दूसरी बात

माता। माता की हत्या करके कौन पुत्र सुखी रहेगा? पिता की अवज्ञा करके भी पुत्र को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। पिता का आदर करना और माता की रक्षा करना, यह धर्मसंकट का समय है।

पिता अपने शील, सदाचार, कुल तथा गोत्र की रक्षा के लिए अपनी पत्नी के गर्भ में मानो स्वयं ही स्थित होता है और पुत्र रूप में जन्म लेता है। अतएव मुझे माता-पिता दोनों ने पुत्र के रूप में जन्म दिया है। पिता पुत्र का भरण-पोषण करता तथा उसे शिक्षा देता है, इसलिए वह पुत्र का गुरु है। पुत्र पिता का प्रिय और पिता पुत्र का सर्वस्व है। पिता पुत्र को कठोर वचन कहे तो भी वे पुत्र के लिए कल्याणकारी होते हैं और प्रिय वचन कहे तो वे पुत्र के पापों को धो देते हैं। फल-फूल पेड़-पौधे से अलग हो जाते हैं, परंतु पिता पुत्र को कभी अलग नहीं करता। पुत्र के सामने पिता का बड़ा भारी गौरव है। पुत्र के लिए पिता बहुत बड़ा आश्रय है।

अब मैं माता के लिए सोचता हूं। माता ही जन्मदात्री है। माता ही संतान की शीतल छाया है। जब तक माता जीवित है तब तक पुत्र सनाथ है। उसके मर जाने पर पुत्र अनाथ हो जाता है। माता के रहते तक पुत्र को चिंता नहीं होती है। पुत्र माता की उपस्थिति में अपने को बूढ़ा नहीं मानता है। निर्धन पुत्र भी माता को पुकारते हुए जब घर में आता है, तब वह अन्नपूर्णा के पास ही आता है। पुत्र भले ही अपने पुत्र-पौत्रों से संपन्न हो, परंतु वह इस अवस्था में भी अपनी माता के पास शिशु की तरह सरल होता है। समर्थ-असमर्थ तथा दुर्बल-सबल सभी पुत्रों का माता पालन करती है। माता के समान पुत्र का पालक कौन हो सकता है? माता के बिछुड़ने पर मनुष्य अपने को बुड्ढा समझने लगता है। वह दुखी हो जाता है। उसे संसार सूना लगने लगता है। पुत्र के लिए माता के समान न कोई छाया है, न सहारा है, न रक्षक है और न प्रिय है। पुत्र को माता गर्भ में धारण करती है, इसलिए धात्री है, जन्म देने से जननी है, अंगवर्द्धन करने से अंबा तथा वीर पैदा करने से वीरसू है। वह शिशु की सुश्रूषा करती है, इसलिए शुश्रू है। माता ही पुत्र का शरीर है। कौन समझदार अपनी माता की हत्या कर सकता है?

पुत्र का गोत्र क्या है तथा उसका पिता कौन है, यह माता ही जानती है। माता संतान को गर्भ में धारण करती है, उसके पैदा होने पर उसकी सेवा करती है, इसलिए उसी का स्नेह अधिक रहता है। पिता तो पुत्र पर अपना प्रभुत्व दिखाता है। पुरुष पत्नी का पाणिग्रहण करता है और उसे जीवनपर्यंत निभाने की प्रतिज्ञा करता है। फिर ऐसा मनुष्य अपनी पत्नी की अनदेखी करके परायी स्त्री के मोह में फंसता है, तो इसके लिए स्त्रियों को दोषी नहीं ठहराया जा

सकता। पुरुष अपनी पत्नी का भरण-पोषण करने से भर्ता तथा पालन करने से पति कहलाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो वह न भर्ता है और न पति। वस्तुतः स्त्री अपराधी नहीं होती, अपितु पुरुष ही अपराधी होता है। स्त्री पति को समर्पित होती है। मेरी माता ने ऐसे पुरुष को आत्मसमर्पण किया है जो मेरे पिता के समान था। अर्थात उसके वेषभूषा तथा शरीर से माता को अपने पति का सामने आना प्रतीत हुआ। अतएव मेरी माता का अपराध नहीं है, अपितु उस पुरुष का अपराध है जो मेरे पिता का रूप धारणकर मेरी माता को धोखा दिया है। स्त्री अबला होने से उसे पुरुष द्वारा विवश कर दिया जाता है। अतएव स्त्री अपराधिनी नहीं है। ऐसी अवस्था में माता की हत्या कौन समझदार करेगा?

चिरकारी चिरकाल तक विचार करने से उसका अधिक समय बीत गया। उधर उसके पिता गौतम आ गये। गौतम ग्लानि में डूबे थे जो उन्होंने चिरकारी को आज्ञा दी थी कि अपनी माता को मार दो। गौतम सोच रहे थे कि इंद्र ब्राह्मण-वेष में मेरे द्वार पर आये और मैंने उनका आदर किया; परंतु, उन्होंने विश्वासघात किया और उन्होंने मेरा रूप बनाकर मेरी पत्नी के साथ दुर्व्यवहार किया। इसमें इंद्र का दोष है, मेरी पत्नी का नहीं।

चिरकारी का चिरकाल तक किसी बात पर विचार करने की आदत ने मातृहत्या से उसे बचा लिया और गौतम को अनुताप से बचा लिया, साथ-साथ अपनी माता को तात्कालिक मृत्यु से बचा लिया।

गौतम ने जब अपनी पत्नी सहित पुत्र चिरकारी को देखा तो चिरकारी को प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया—बेटा चिरकारी! तेरा कल्याण हो। तू चिरंजीवी हो। यदि तू जीवनपर्यंत ऐसा ही स्वभाव वाला रहेगा, तो मैं कभी दुखी नहीं होऊंगा।

इसके बाद गौतम ने कुछ गाथाएं कहीं, वे इस प्रकार हैं—चिरकाल सोच-विचारकर किसी को मित्र बनावे और उसे चिरकाल तक निभावे। उसे सहसा न छोड़े। यदि छोड़ने की आवश्यकता हो तो चिरकाल तक सोच-विचार ले। चिरकाल तक सोच-विचारकर बनाये मित्र से ही मैत्री स्थिर रहती है। राग, घमंड, द्रोह, पापाचरण और किसी का अप्रिय करने में जो देर करता है, वह प्रशंसनीय है। बंधुओं, मित्रों, सेवकों तथा स्त्रियों के गुप्त अपराधों के विषय में निर्णय करने में जो जल्दी नहीं करता है, वही पश्चाताप से बचा रह सकता है।

दीर्घकाल तक बड़े-बूढ़े की सेवा करे। चिरकाल तक धर्म का सेवन तथा

उसका अनुसंधान करे। विद्वानों, संतों तथा सत्पुरुषों की चिरकाल तक सेवा एवं सत्संग करे। धर्मोपदेश करने वाले से यदि कोई कुछ पूछे, तो उपदेष्टा को विलंब तक सोच–विचारकर उत्तर देना चाहिए। ऐसा करने से वक्ता को पश्चाताप नहीं करना पड़ता (अध्याय)।

गौतम ने अपने पुत्र चिरकारी की प्रशंसा करते हुए कहा था–चिरकारी! तुम्हारा कल्याण हो। चिरकारी! तुम्हारा मंगल हो। चिरकारी बड़ा मेधावी है। चिरकारी अपने कर्तव्य–पालन में कभी अपराध नहीं करता। यथा–

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक।
चिरकारी हि मेधावी नापराध्यति कर्मसु ,

मीमांसा

चिरकाल तक, बहुत देर तक विचारकर काम करना चाहिए, यह बात ठीक है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए यह कहानी रची गयी है। किंतु इसके लिए इंद्र का दूषित चरित्र चित्रण कर कथाकार ने अपराध किया है।

ऋग्वेद के एक चौथाई में इंद्र की महिमा है और वह कहीं शिथिल आचरण का नहीं है। वस्तुतः वेद के अनुसार इंद्र कोई व्यक्ति नहीं है, अपितु प्राकृतिक शक्ति है। कवि–हृदय ऋषियों ने अपने काव्य में उसका व्यक्तिकरण कर दिया है, किंतु वह व्यक्ति नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण में 'इंद्र अहल्याजार' कहा गया है। इसका अर्थ है, इंद्र सूर्य है, और अहल्या रात है। 'अह' कहते हैं दिन को और 'ल्या' कहते हैं लीन को, अर्थात दिन जिसमें लीन रहे वह रात 'अहल्या' है। सूर्य रात को जीर्ण (क्षीण) करता है, इसलिए इंद्र (सूर्य) अहल्याजार है। इस कथन का दुरुपयोग कर यहां इंद्र को व्यक्ति बनाया गया और उसे छली तथा व्यभिचारी बना दिया गया। आगे चलकर वाल्मीकि रामायण के बालकांड में इस कथा को और भद्दा कर दिया गया। यह लेखकों की भूल है।

. राजा किसी को मृत्युदंड देकर उसका मूलोच्छेद न करे

एक राजा थे द्युमत्सेन। उनका पुत्र था सत्यवान। एक दिन सत्यवान ने देखा कि पिता जी की आज्ञा से बहुत–से अपराधी सूली पर चढ़ा देने के लिए ले

जाय जा रहे हैं। उस समय सत्यवान ने पिता से कहा–पिता जी! कहीं ऊपर से दिखता हुआ धर्म अधर्म होता है और कहीं अधर्म धर्म होता है; परंतु किसी प्राणी की हत्या करना कभी धर्म नहीं हो सकता।

राजा द्युमत्सेन ने कहा–बेटा, यदि अपराधी नहीं मार दिये जाते हैं, तो प्रजा पीड़ित हो जायगी। बदमाश दूसरों का धन हड़प लेंगे। सत्यवान ने कहा–पिता जी! ज्ञानियों द्वारा प्रजा को अच्छी सीख देनी चाहिए। इतने पर कोई दुष्कर्म करे तो उसे दंड देना चाहिए, किंतु मृत्युदंड नहीं देना चाहिए। राजा डाकुओं को तथा निरपराध मनुष्यों को भी न समझकर मृत्युदंड दे देता है। फिर उनके पीछे पलने वाले परिवार को भी मानो मार देता है, क्योंकि उनके पालक मारे जा चुके हैं। अतएव राजा अच्छी तरह जांच-भालकर अपराधी को दंड दे, किंतु मृत्युदंड किसी को भी नहीं देना चाहिए। दुष्ट मनुष्य भी साधु-संगति से अच्छे हो जाते हैं, और दुष्ट पिता के सुशील बच्चे भी होते हैं। अतएव दुष्टों को मृत्युदंड देकर उनका मूलोच्छेद नहीं करना चाहिए। किसी की जड़ उखाड़ देना धर्म नहीं है। यदि डाकू तथा बदमाश प्रतिज्ञा करें कि अब हम अपराध नहीं करेंगे, तो उन्हें सुधरने का अवसर देना चाहिए। यदि संन्यासी भी अपराध करे तो वह भी दंड पाने का अधिकारी है।

राजा द्युमत्सेन ने कहा–बेटा! प्रजा को धर्म की मर्यादा में रखने के लिए दंड विधान ठीक है। यदि चोर, डाकू तथा हत्यारों को प्राणदंड न दिया जाय, तो प्रजा सुरक्षित नहीं रह सकती। चोर-डाकू किसी के भी हितैषी नहीं होते। लुटेरों से किसका भला है? वे तो श्मशान में मुरदों के वस्त्र भी उतार लेने वाले होते हैं।

सत्यवान ने कहा–पिता जी! यदि आप लुटेरों तथा बदमाशों को सज्जन बनाने में असमर्थ हैं तो आप उनके कल्याण के लिए ऐसा उपाय कीजिए जिससे वे चोरी तथा लूट का काम छोड़ दें। भय दिखाकर उनको रास्ते पर लाना चाहिए। उन्हें मृत्युदंड देकर तो उनको जड़मूल से समाप्त कर देना होता है। यदि राजा विषय-लंपट है और वह प्रजा को संयमी होने की सीख देता है, तो लोग उसकी हंसी ही उड़ायेंगे। जो राजा प्रजा के पाप की प्रवृत्ति रोकना चाहता है, वह पहले अपने को संयम में रखे। इसके बाद यदि उसके सगे-संबंधी अपराध करें तो उन्हें भी दंड देना चाहिए। स्वायंभुव मनु ने प्राणियों पर दया करने के लिए धर्मोपदेश दिया है जिससे वह जगत में सत्स्वरूप की स्थिति का उत्तम फल प्राप्त करे, उससे वंचित न रह जाय (अध्याय)।

. कपिल–स्यूमरश्मि–संवाद तथा कर्म और ज्ञान का समन्वय

राजा नहुष ने वेद के उपदेश को सनातन, नित्य एवं प्राचीन समझकर अपने द्वार पर त्वष्टा के आगमन पर उनका सत्कार करने के लिए एक गाय का वध करने का विचार कियाा। इतने में वहां संयमपरायण, उदार, सत्वगुण में स्थित, मिताहारी, उदारचित्त कपिल मुनि आ गये। वे उत्तम, निर्भय, सुस्थिर, सत्य, सद्भावयुक्त तथा उत्साहयुक्त बुद्धि के थे। उन्होंने यह निर्दय–कर्म देखकर केवल एक वचन कहा–'हा वेद!'

इतने में वैदिक कर्मकांड के पक्षधर स्यूमरश्मि आ गये और उन्होंने कपिल के उक्त उद्गार को सुन लिया। अतएव वे क्षुब्ध होकर बोले–यदि आपको वेदों की प्रामाणिकता पर संदेह है, तो उनके पीछे बने अन्य शास्त्रों को किस आधार पर प्रमाणभूत मानेंगे?

कपिल ने कहा–न मैं वेदों की निंदा करता हूं और न उन्हें उलटा कहने वाला कहता हूं। संन्यासी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा गृहस्थ सभी कल्याण–प्राप्ति के अधिकारी हैं। कौन छोटा है और कौन बड़ा, यह उनकी रहनी पर निर्भर करता है। वेदों में दोनों बातें हैं–कर्म करे और कर्म न करे। हिंसा दोष है और अहिंसा निर्दोष। ऐसी स्थिति में वेदों को समझना कठिन है। क्या धर्म के नाम पर हिंसा करने से अच्छा फल मिल सकता है?

स्यूमरश्मि ने कहा–यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है, यह वेद–कथन है। अतएव मनुष्य स्वर्ग पाने की इच्छा रखकर यज्ञ करता है। श्रुति कहती है कि पशु और अन्न यज्ञ के अंग हैं। प्राणियों में श्रेष्ठ मनुष्य को भी यज्ञ के लिए नियुक्त बताया गया है। स्वर्ग सब जीव चाहते हैं, परंतु यज्ञ के अलावा स्वर्ग पाने का अन्य कोई साधन नहीं है। गौ अपने घी, दूध, दही, छाछ, गोबर, चमड़ा, बाल, सींग और पैर से यज्ञ–कर्म का संपादन करती है। पहले से लोग ऐसा यज्ञ करते आये हैं। वेदों के ब्राह्मण–ग्रंथों से यज्ञ प्रकट हुआ है। यज्ञ के पीछे जगत तथा जगत के पीछे यज्ञ है। अतएव प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है कि वह बिना विचार किये यज्ञ करे और करावे। यज्ञ करने वाला मरने के बाद स्वर्ग में जाता है (अध्याय)।

कपिल ने कहा–संन्यासी संयम द्वारा परम शांति को प्राप्त करते हैं। सारे दृश्य–प्रपंच को नश्वर समझते हैं। वे विवेकवान समस्त बाधाओं से मुक्त होते हैं। वे निर्द्वंद्व, नमस्कार, और आशीर्वाद से परे और सभी कामनाओं से मुक्त होते हैं।

वे सभी पापों से मुक्त हो निर्मल भाव से विचरते हैं। उनकी बुद्धि में मोक्ष के लिए सर्वस्व त्याग निश्चय रहता है। वे ब्रह्मस्वरूप होते हैं। उनको प्रकृति से परे सनातन स्थिति की प्राप्ति होती है जो शोक से परे होती है। ऐसे परम स्थिति को प्राप्त पुरुष को गृहस्थ धर्म से क्या प्रयोजन हो सकता है?

स्यूमरश्मि कहते हैं–परम गति और मोक्ष उच्चतम स्थिति है, यह बात मान्य है, परंतु गृहस्थ-आश्रम में से ही लोग निकलकर वहां तक पहुंचते हैं। अतएव मुमुक्षुओं का उत्पत्ति-स्थान गृहस्थी ही है। गृहस्थ-आश्रम वैसे ही सबका सहारा है जैसे माता सबका सहारा होती है। सब गृहस्थ-आश्रम में ही पैदा होते हैं। अन्न तथा औषध का उत्पादन भी गृहस्थ-आश्रम में ही होता है। गृहस्थ का मोक्ष नहीं हो सकता, यह बात सत्य नहीं है। जो श्रद्धाहीन, प्रज्ञाहीन, सूक्ष्मदृष्टि से वंचित, चंचल, आलसी, श्रांत अपने कर्मों से संतप्त हैं, वे अ-पंडित मनुष्य ही प्रव्रज्या लेकर संन्यासी हो जाते हैं और गृहस्थाश्रम में शांति का अभाव देखते हैं। वैदिक धर्म ही सनातन है। वही सबका कल्याणकारी है। ब्राह्मण पूजनीय है। वह अपने जन्म से ही आदर-पात्र है। ब्राह्मण-परंपरा में जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत तथा उसके बाद भी वेद-मंत्रों द्वारा अनेक संस्कार कराये जाते हैं। वेद-मंत्र पुकार-पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य देव, पितर और ऋषियों का ऋणी है। गृहस्थ आश्रम में रहकर उन ऋणों को चुकाये बिना किसी का मोक्ष नहीं हो सकता। जो श्रीहीन तथा आलसी पंडित हैं, उन्होंने यह मार्ग चलाया है कि कर्मों के त्याग से मोक्ष होता है। यह सत्य प्रतीत होता है, परंतु है मिथ्या। इस मार्ग वाले वेदज्ञान से हीन होते हैं। ब्राह्मण वेद-शास्त्रों के अनुसार यज्ञ करता है। वह पाप से मुक्त हो जाता है। यज्ञ करने वाले तथा यज्ञ में बलि दिये गये पशु दोनों स्वर्ग में जाते हैं। वेदों का अनादर करके, शठता से तथा छल-कपट से कोई ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता।

कपिल ने कहा–यज्ञ करने वालों के लिए पुराना रास्ता है दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य आदि का अनुष्ठान करना। परंतु जो संन्यास-मार्ग में आ गये हैं, वे हवन-तर्पण के कर्मकांड से अलग हो जाते हैं। वे धीरवान पुरुष पवित्र ब्रह्म में स्थित हैं। वे आत्मज्ञान द्वारा ही मानो सभी देवताओं को तृप्त करते हैं। जो ज्ञानी सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सबमें देखता है, ऐसा समता प्राप्त पुरुष का कोई विशेष पद नहीं होता है। उनका अनुसरण करने में विद्वान भी असमर्थ होते हैं। मनुष्य के चार द्वार हैं– . हाथ-पैर, . वाणी, . उदर और . उपस्थ। इनका द्वारपाल बन जाय, इनकी रक्षा करे। जुआ न खेले, दूसरों का धन न छीने, मलिन मनुष्य के हाथ का भोजन न करे, क्रोध न

करे तथा किसी की हिंसा न करे। इतना ही नहीं, वह किसी को कटु न कहे, गाली न दे, चुगुली–निंदा न करे, कम बोले, सत्य बोले तथा सदा मीठा बोले। इसके लिए सदैव सावधान रहकर वाणी–द्वार की रक्षा करे। उपवास न करे, किंतु अधिक न खाय, भोजन के लिए लालायित न रहे। संत–सज्जनों की संगत करे और पेट में उतना ही अन्न डाले जितनी उसमें आवश्यकता हो। इस तरह उदर की, पेट की रक्षा करे। गृहस्थ केवल अपनी पत्नी में संतुष्ट रहे, पर–स्त्री से परहेज करे। इससे उपस्थ द्वार की रक्षा होती है। इस प्रकार जिसके उपस्थ, उदर, हाथ–पैर तथा वाणी पूर्ण संयमित हैं वह ब्राह्मण है। जिसके ये चारों द्वार सुरक्षित हैं, वही सच्चा ब्राह्मण है। जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं, उसके सारे कर्म निष्फल हैं। ऐसे मनुष्यों को तपस्या, यज्ञ तथा आत्मज्ञान से क्या लाभ होगा?

जिसके पास कपड़ा केवल लंगोटी है, ओढ़ने के लिए एक चादर भी नहीं है, जो बिना बिस्तर के नंगी जमीन पर हाथों का तकिया लगाकर सोता है और सदैव शांत रहता है, उसी को देवता ब्राह्मण कहते हैं। जो निर्द्वंद्व होकर आत्मा राम में रमता है और अन्य चिंतन नहीं करता है, वह ब्राह्मण है। जो प्रकृति का ज्ञान रखता है और सारा दृश्य नश्वर समझता है और प्राणियों की स्थिति समझकर सबसे समता का बरताव करता है वह ब्राह्मण है। जो सब प्राणियों से निर्भय है और जिससे सबको निर्भयता मिलती है और जो सबके प्रति दयालु है, वह ब्राह्मण है। परंतु मूर्ख मनुष्य दान और यज्ञ–कर्म के फल के अलावा योग आदि पर ध्यान नहीं देते। वे मोक्ष–तत्त्व को न समझकर कल्पित स्वर्ग के पीछे दीवाने हैं। परंतु योग तथा आत्मज्ञान की साधना में रमने वाले उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति करते जाते हैं। योग–मार्ग के यम–नियमादि का अनुष्ठान यज्ञकर्म करने वाले नहीं कर सकते। योग द्वारा आत्मस्थिति की जो प्राप्ति होती है, वह स्थायी शांति देने वाली है, परंतु कर्मकांडी इससे दूर रहते हैं। यज्ञ को समझना कठिन है। उसका अनुष्ठान करना और भी कठिन है। यदि अनुष्ठान भी किया जाय, तो उसका फल क्षणिक भोग तक है। स्यूमरश्मि! इस बात को तुम भी समझते हो। योग का फल प्रत्यक्ष आत्मशांति है। इसका स्वयं अनुभव कर सकते हो, परंतु जिस यज्ञ–हवन में तुम लोग लिपटे हो, उसमें कौन–सा प्रत्यक्ष फल है?

स्यूमरश्मि ने कहा–ब्रह्मन! मेरा नाम स्यूमरश्मि है। मैं आपके पास ज्ञान–प्राप्ति की इच्छा से आया हूं, वाद–विवाद के लिए नहीं। आपने कहा कि तुम योगमार्ग के फल का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हो। मैं पूछता हूं कि आपके

योगमार्ग का क्या प्रत्यक्ष फल है? आप तर्क का सहारा लेकर बात न करें जिससे मैं शास्त्र के आधार पर समझ सकूं। हर आश्रम के अपने कर्तव्य हैं जो शास्त्रों में वर्णित हैं। शास्त्र के निश्चय से ही सिद्धि के प्रत्यक्ष फल का दर्शन होता है। "वस्तुतः इस संसार में न कोई त्यागी है, न संतुष्ट, न शोक-हीन और न नीरोग। कोई मनुष्य कर्म करने की इच्छा से रहित भी नहीं है, न आसक्ति-रहित है और न बिलकुल कर्म का त्यागी ही है। आप भी हम लोगों की तरह हर्ष-शोक प्रकट करते हैं। जैसे अन्य प्राणियों की इंद्रियों के सामने शब्दादि पांचों विषय हैं, वैसे आपकी इंद्रियों के सामने भी विषय हैं।" सभी वर्ण और आश्रम वाले सुख पाने का लक्ष्य रखकर कर्म करते हैं। आप बताइए कि सिद्धांततः आपका अक्षय सुख क्या है?

कपिल ने कहा–सभी शास्त्रों के उपदेश जीव के कल्याण के लिए हैं। आत्मज्ञान बंधनों का नाशक है। आत्मज्ञान-विहीन प्रवृत्ति जन्म-मरण में भटकाने वाली है। आप लोग ज्ञानी हैं, सब प्रकार से नीरोग हैं, परंतु क्या आप लोगों में कोई किसी काल में आत्मलीन हुआ है? कुछ लोग शास्त्रों का अर्थ न समझकर वितंडावाद में पड़े रहते हैं और वे राग, द्वेष तथा अहंकार के अधीन होकर भटकते हैं। वे शास्त्रों के सही अर्थ न जानने के कारण उनका छलपूर्वक अर्थ लगाकर शास्त्र-दस्यु अर्थात शास्त्रों के अर्थ पर डाका डालने वाले हो जाते हैं। इतना ही नहीं, *'ब्रह्मस्तेन'* अर्थात ब्रह्म-चोर भी होते हैं। वे केवल मुंह से ब्रह्म-ब्रह्म कहते हैं, किंतु मन-इंद्रियों को अपने वश में नहीं करते हैं। वे दिखावा तथा मोह में पड़े रहते हैं। वे शम-दमादि साधनों को निरर्थक समझते हैं। वे आत्मज्ञान और सद्‌गुणों की अभिलाषा नहीं करते। वे तमोगुण में ही पड़े रहते हैं। मनुष्य अपने स्वभाव के अधीन होता है। उसके भीतर द्वेष, काम, क्रोध, दंभ, असत्य तथा मद विद्यमान रहते हैं। किंतु जिसे परम गति की अभिलाषा होती है, वह शुभ-अशुभ दोनों का त्यागकर आत्मलीन होता है।

स्यूमरश्मि ने कहा–मैंने जो कुछ कहा है वह सब शास्त्रों को समझकर कहा है। न्यायोचित कर्तव्य शास्त्र है और न्यायविरुद्ध अशास्त्र है। वैदिक वचनों के विरुद्ध जो कुछ है, वह सब अ-शास्त्रीय है। कुछ लोग शास्त्र वचन नहीं

. **नैव त्यागी न संतुष्टो नाशोको न निरामयः।**
न निर्विधित्सो नावृत्तो नापवृत्तोऽस्ति कश्चन
भवन्तोऽपि च हृष्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम् ।
इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु , -

मानते। वे इह लोक को ही मानते हैं। जैसे हम वैदिक लोग शोक करते हैं वैसे वे अवैदिक लोग भी शोक करते हैं। आप ज्ञानियों को भी सामान्य प्राणियों की तरह इंद्रिय–विषयों का ज्ञान होता है। चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोग लोक–सुख की अभिलाषा रखते हैं। उनमें से हम–जैसे लोग अज्ञान के कारण मूढ़–बुद्धि बने हैं। हम तुच्छ विषयों में रमने वाले तमोगुण से ढके हैं। आप चिंतनशील हैं। आपने सार्वभौमिक सत्य मोक्ष–सुख की अनंतता बताकर हमें शांति पहुंचायी है। आपके समान जो योगयुक्त है, केवल आत्मा में रमता है, मन पर विजयी तथा कृतकृत्य है, स्वल्प भोजन लेकर आत्माराम बना सर्वत्र विचरता है, सारा संसार नाशवान समझता है, इसलिए सब कुछ त्याज्य समझता है, वही वेद–वाक्यों के अनुसार 'मोक्ष' है, ऐसा कह सकता है। कुटुंब–पालन, दान, स्वाध्याय, यज्ञ, संतान पैदा करना और सदैव सरल तथा कोमल भाव से सबके साथ बरताव करना अत्यंत कठिन काम है। यदि यह सब करके भी मोक्ष प्राप्त न हो तो यह सब करने वाले को धिक्कार है और उन सब कार्यों को धिक्कार है। गृहस्थी का सारा परिश्रम व्यर्थ गया। यदि कर्मकांड को व्यर्थ समझकर उसे छोड़ दिया जाय तो यह नास्तिकता होगी, वेदों का तिरस्कार होगा। अतएव भगवन! मैं यह जानना चाहता हूं कि कर्मकांड किस तरह सरलता से मोक्ष का साधन बन सकता है? आप मुझे तथ्य की बात बताइए। मैं शिष्य–भाव से आपकी शरण में आया हूं। आप मुझे मोक्ष का उपदेश दीजिए। मैं आपसे मोक्षोपदेश चाहता हूं (अध्याय)।

कपिल ने कहा–"संपूर्ण लोकों के लिए वेद प्रमाण है, अतएव वेदों का तिरस्कार नहीं किया गया है। ब्रह्म के दो रूप हैं जो समझने योग्य हैं। एक शब्दब्रह्म है और दूसरा परम ब्रह्म है। जो मनुष्य शब्दब्रह्म में निष्णात है, वह परम ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।" जिसका शरीर शुद्ध है, वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है। अब मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यह बताने जा रहा हूं कि कर्म किस प्रकार मोक्ष–सुख पाने में कारण बनता है। कामनाशून्य होकर तथा केवल अपना कर्तव्य समझकर जो यज्ञ होते हैं, उसका फल वेद तथा इतिहास से नहीं जाना जाता है। वह तो आंखों के सामने रहता है। जो त्याग से रहता है, निर्लोभी है, कृपणता और पर–दोषदर्शन से रहित है, सत्पात्रों को दान करता है, कभी पापकर्म नहीं करता है और सदैव कर्मयोग में लगा

. **वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।**
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति शांति पर्व, , श्लोक –

रहता है; उसके मन के संकल्प सफल होने लगते हैं और उसको आत्मा का शुद्ध ज्ञान निश्चित हो जाता है। ऐसा ज्ञानी न क्रोध करता है, न किसी में दोष ढूंढ़ता है, न अहंकार तथा ईर्ष्या करता है। उसको ज्ञान में निष्ठा होती है। उसके मन, वाणी, कर्म शुद्ध होते हैं और वह सभी प्राणियों के हित में लगा रहता है। पहले कितने ही राजा तथा ब्राह्मण ऐसे थे जो गृहस्थी में रहते हुए अपने कर्तव्य कर्म करते थे। वे सब प्राणियों पर समान दृष्टि रखते थे। वे सरल, संतुष्ट, ज्ञाननिष्ठ, प्रत्यक्ष फल देने वाले धर्म का आचरण करने वाले और शुद्धचित्त होते थे। वे शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म दोनों में श्रद्धा रखते थे। वे अपने पवित्र आचरण में दृढ़ होते थे, कठिनाई आने पर भी वे परस्पर मिलकर धर्माचरण करते थे। वे संघबद्ध होकर सुखी रहते थे। उन्हें पश्चाताप करने का अवसर नहीं पड़ता था।

वे अपने सत्यधर्म में दृढ़ होने से दुर्धर्ष माने जाते थे। वे थोड़ा भी पाप नहीं करते थे। वे मौत का समय आने पर भी छल-कपट का काम नहीं करते थे। जो ब्रह्मचर्य और तप से रहे वह ब्राह्मण है, शेष ब्राह्मण तो नाम मात्र के हैं। जिनके राग-द्वेष आदि कषाय क्षीण हो गये हैं, मन की तृष्णा समाप्त हो गयी है, जो बाहर-भीतर शुद्ध हैं, जिनका मन मोक्ष में लगा है, वे आत्माराम होते हैं। चतुर्थ उपनिषद् जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति के आयाम से परे प्रपंचशून्य आत्मलीनता है, उसको पाने के लिए धर्म शम-दमादि हैं, वे सभी मनुष्यों के लिए सामान्य हैं। उनमें कोई किसी के लिए भेदभाव नहीं है। जो अपने को साध ले, वही आत्मतृप्त हो जाता है। "यतिधर्म एवं संन्यास आश्रम सनातन है। उसका मूल संतोष है, उसका स्वरूप त्याग है। वह ज्ञान का आश्रय कहा जाता है और उसमें मोक्षदायिनी बुद्धि है।" जो इस मार्ग पर चलता है वह कल्याण पाता है; परंतु जो दुर्बल मन का है, मन-इंद्रियों के संयम से रहित है, वह ठंडा होकर मोह-माया में ही बैठा रहता है। किंतु जो बाहर-भीतर पवित्र है, वह आत्मानुसंधान करता हुआ संसार-बंधन से मुक्त हो जाता है। सात्विक गुण से उत्पन्न सभी परिग्रह शुभ हैं; परंतु जो सुख त्याग में है, वह कहीं नहीं है। इस बात को तुम भी समझ सकते हो।

स्यूमरश्मि ने कहा-भगवन कपिल! आप आत्मज्ञाननिष्ठ हैं, परंतु गृहस्थ कर्मनिष्ठ होते हैं। लेकिन आप इस समय सभी आश्रमों की एकता की बात करते हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्म की एकता और पृथकता दोनों का भ्रम होने

. **संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते।**
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः ,

से इनमें क्या अंतर है, यह समझ में नहीं आता है। अतएव इसका भेद ठीक–ठीक बतायें।

कपिल ने कहा–"कर्म शरीर और मन को शुद्ध करते हैं और आत्मज्ञान से परम गति की प्राप्ति होती है। जब शुभकर्मों से मन के राग–द्वेष नष्ट हो जाते हैं तब रसस्वरूप आत्मज्ञान में स्थिति होती है।" सभी जीवों पर दया, क्षमा, शांति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निरभिमानता, लज्जा, तितिक्षा तथा शम; आत्मस्थिति की प्राप्ति के साधन हैं। इस रास्ते से मनुष्य ब्राह्मी दशा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्वान को चाहिए कि वह कर्म के सच्चे फल का निश्चय करे। ज्ञानी जब सब तरफ से शांत, संतुष्ट, पवित्र मन और ज्ञाननिष्ठ हो जाता है तब वह परम गति को प्राप्त करता है।

"जो वेदों और उनके द्वारा जानने योग्य ब्राह्मी स्थिति को ठीक–ठीक जानता है, उसी को वेदों का ज्ञाता कहा जाता है। दूसरे लोग तो वेदपाठ के नाम पर हवा छोड़ते हैं।"

वेदज्ञ लोग सभी विषयों को जानते हैं, क्योंकि वेदों में सब कुछ बताया गया है। जो है और जो नहीं है, सबकी बात वेदों में बता दी गयी है। ज्ञाननिष्ठा का फल यह है कि ज्ञानी यह समझे कि जो कुछ जड़ दृश्य आज हमारे सामने है, वह अंततः हमारे साथ रहने वाला नहीं है। यही सच्चा ज्ञान है। "सभी वेदों का सार यह है कि सब कुछ का त्यागकर देने पर ही ब्राह्मी स्थिति मिलती है। जो आत्मसंतुष्ट है वह मोक्ष में प्रतिष्ठित है।" जो ब्रह्मज्ञानी से अभिन्न है, उस ब्रह्म को नमस्कार है–*तस्मै नमो ब्रह्मणे ब्राह्मणाय* (,)।

मीमांसा

राजा नहुष त्वष्टा की पूजा में गाय मारना चाहता है। कपिल पहुंच जाते हैं और वे यह हृदय–विदारक दशा देखकर केवल एक वचन कहते हैं–'हा वेद!' इसका सीधा अर्थ होता है कि वेद तुम्हें धिक्कार है जो तुम किसी की पूजा में

. **शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।**
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ,

. **वेदांश्च वेदितव्यं च विदित्वा च यथास्थितिम् ।**
एवं वेदविदित्याहुरतोऽन्यो वातरेचक : ,

. **समाप्तं त्याग इत्येव सर्ववेदेषु निष्ठितम् ।**
संतोष इत्यनुगतमपवर्गे प्रतिष्ठितम् अध्याय ,

प्राणिहत्या का आदेश देते हो। यदि कोमल अर्थ किया जाय तो अर्थ होगा कि 'हा वेद!' तुम्हारा कितना दुरुपयोग हो रहा है। कुल मिलाकर यज्ञ और धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का विरोध है। ब्राह्मण पुरोहितों का यज्ञ करना पेट धंधा था, इसलिए वे इसके समर्थन में जुटे रहते थे। यहां स्यूमरश्मि ब्राह्मण पुरोहित का प्रतिनिधि है और कपिल बौद्धों तथा अन्य वेद-बाह्य तार्किकों के प्रतिनिधि हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं-"यहां स्पष्ट ही वैदिकी हिंसा पर आक्षेप किया गया है और यह भी संदेह किया गया है कि वेद-प्रस्तावित चार आश्रमों का धर्म कहां तक समीचीन है? यह उस युग में बौद्धों का वेद के संबंध में विचार था। अहिंसा और हिंसा को लेकर यह प्रश्न बहुत जटिल और कठिन बन गया था। यह बौद्धों और भागवतों के बीच में मतभेद का बवंडर बन गया था। उससे पिंड छुड़ाना भागवतों के लिए मुश्किल हो रहा था। एक ओर तो वे वैदिकी हिंसा की निंदा नहीं कर सकते थे, दूसरी ओर अहिंसा का समर्थन करने पर बाध्य थे। कपिल बौद्ध या वेद-बाह्य दृष्टिकोण के समर्थक हैं और स्यूमरश्मि मिली-जुली बात कहकर वैदिक मत का समर्थन कर रहे हैं।"

स्यूमरश्मि क्षुब्ध होकर कहता है-"इस जगत में न कोई त्यागी है न संतुष्ट, न शोकहीन है न नीरोग, न कोई कर्म करने की इच्छा से शून्य है न आसक्तिरहित है और न सर्वथा कर्म का त्यागी है। आप भी हम लोगों की तरह हर्ष-शोक प्रकट करते हैं। जैसे सब प्राणियों की इंद्रियों के सामने पांचों विषय हैं वैसे आपकी इंद्रियों के सामने भी हैं।" परंतु कपिल का प्रश्नवाचक उत्तर संयत हैं-आप कर्मकांडी लोग तो ज्ञानी तथा सब तरफ से नीरोग हैं, परंतु आप लोगों में से कोई कभी एकात्मता को प्राप्त हुआ है, केवल-स्थिति में स्थित हुआ है?

अंततः दोनों की बहस में समता आयी है। कपिल ने कहा कि कर्म वह ठीक है जिससे चित्त शुद्ध हो। अंततः आत्मज्ञान से परम गति शांति है।

. मोक्ष-मार्ग की रहनी का वर्णन

एक निर्धन ब्राह्मण धन की प्राप्ति के लिए तपस्या तथा देवता की आराधना करने लगा, किंतु धन नहीं पाया। ब्राह्मण ने कहा-वह कौन देवता होगा जिसे

. **भारत सावित्री, पृष्ठ ।**

मनुष्यों ने आराधना करके जड़ एवं निष्ठुर न बना दिया हो और वह मुझे धन देगा?

देवता तो ब्राह्मण पर प्रसन्न हुआ, परंतु उसे धन नहीं दिया, अपितु उसको विरक्ति का वस्त्र दिया। ब्राह्मण को पहले खेद तो हुआ, परंतु देवता की बात उसने मान ली और विरक्ति–वेष पहनकर साधना करने लगा और उसे आध्यात्मिक सिद्धि मिली। देवता ने ब्राह्मण से कहा कि तुम अपनी दिव्य दृष्टि से देखो कि राजाओं की गति क्या होती है। जब ब्राह्मण ने देखा तो पाया कि हजारों राजा नरक में डूबे भयंकर दुख पा रहे हैं। देवता ने कहा–देखो–देखो! भोग की इच्छा करना अपने को नरक में ढकेलना है। जीवन क्षणिक है। इसमें रहकर धर्म की आराधना करना चाहिए, भोग की नहीं। "देवता, ब्राह्मण, संत, यज्ञ, मनुष्य और चारण, ये सब धर्मात्माओं की पूजा करते हैं, धनियों और भोगियों की नहीं।" यथा–

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः ,

आगे दो सौ बहत्तर ( )वें अध्याय में कहा गया है कि यज्ञ में प्राणिहिंसा करना पाप है। धर्म के नाम पर कभी भी किसी प्राणी को नहीं मारना चाहिए। "अहिंसा ही संपूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहित करने वाला है– *अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः* (,)।"

युधिष्ठिर ने पूछा–पितामह! मनुष्य कैसे पापी हो जाता है, वह कैसे धर्माचरण करता है, उसे क्यों वैराग्य हो जाता है और किस साधन से वह मोक्ष पाता है? भीष्म ने कहा–मनुष्य को शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध, इन पांचों विषयों को भोगने की इच्छा होती है। वह जिस विषय को भोगता है, उसमें उसे राग हो जाता है। फिर उसको निरंतर पाने के लिए प्रयत्न करता है। प्रतिकूल विषय से द्वेष उत्पन्न होता है। अनुकूल विषय के प्रति लोभ होता है। लोभ के बाद मोह होता है। लोभ–मोह तथा राग–द्वेष में डूबे मनुष्य का धर्म में मन नहीं लगता। वह किसी बहाने से दिखावा का धर्म करता है। वह कपटपूर्वक धन कमाता है। संतों के समझाने पर भी वह उसी उलटे रास्ते पर रहता है। वह शास्त्रों के वचनों का दुरुपयोग करके उसी से उत्तर देता है। वह मन से पाप सोचता है, वाणी से पाप बोलता है और इंद्रियों से पाप करता है। इस प्रकार मनुष्य पापी हो जाता है।

जो मनुष्य राग–द्वेषादि दोषों को पहले ही समझ लेता है, वह सुख–दुख की सचाई को देख लेता है। वह संतों की संगत और सेवा करता है। उसकी बुद्धि

शुद्ध होती जाती है। प्रज्ञावान धर्म का सहारा लेता है। वह मनुष्य धर्मपूर्वक धन कमाता है। इस प्रकार उसकी संगत, जीविका तथा व्यवहार सब धर्ममय होने से वह सब समय सुखी रहता है। वह अनुकूलता पाने पर अभिमान नहीं करता। वह धीरे-धीरे विवेक-मार्ग में आगे बढ़ जाता है। चित्त शुद्ध होने से उसे विषयों की क्षणभंगुरता का बोध होता है, अतएव उसके मन में वैराग्य हो जाता है। वह सब कुछ नाशवान समझकर मन में सर्वस्व का त्यागकर देने का प्रयत्न करता है। जब सब कुछ का त्याग दृढ़ हो जाता है, तब वह मुक्त ही है। अतएव अधर्म छोड़कर धर्म-मार्ग में लगना चाहिए और वैराग्य के पथ पर चलकर मुक्त हो जाना चाहिए (अध्याय)।

युधिष्ठिर ने पूछा-मोक्ष का उपाय क्या है? भीष्म ने कहा-जैसे घट-निर्माण हो जाने के बाद घट-निर्माण के उपाय की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे चित्त शुद्ध हो जाने पर कर्म-मार्ग की आवश्यकता नहीं रहती। मोक्ष-मार्ग पर चलने वाले को दूसरी तरफ दृष्टि नहीं डालना चाहिए। साधक क्षमा के बल से क्रोध को जीते, संकल्पों के त्याग से कामनाओं का नाश करे और ज्ञान-ध्यानादि से आलस्य को जीते। साधक सावधानी से भय को जीते, आत्म-चिंतन से देहाभिमान को जीते और धैर्य से इच्छा, द्वेष तथा काम को जीते। आत्मज्ञान द्वारा संशय, भ्रम, मोह आदि को जीते। लौकिक चतुरता को छोड़कर सरल बन जाय और प्रशांत मन से रहे।

हितकारी, सुपाच्य और हलके भोजन से रोग तथा शारीरिक उपद्रवों को जीते, संतोष से लोभ-मोह को तथा तत्त्व दृष्टि से विषयों को जीते। दया से अधर्म को तथा अनासक्ति से विषयों पर विजय करे। अनित्यता का चिंतन करके स्नेह को जीते, विनम्रता से अभिमान को, संतोष से तृष्णा को, उद्योग से आलस्य को, मौन से बहुत बोलने की आदत को तथा साहस से भय को जीते। विवेक से मन-इंद्रियों को संयत करे। आत्मज्ञान द्वारा विवेक को वश में करे और आत्मा द्वारा आत्मा में शांत हो जाय। इस प्रकार पवित्र-हृदय साधक शांतभाव से आत्मा का साक्षात्कार करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, आलस्य आदि को त्यागकर तथा वाणी का संयम रखकर ध्यानाभ्यास करे। ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतर की शुद्धि, मन-इंद्रियों का संयम योग के साधन हैं। इस प्रकार मन, वाणी, कर्मों के सारे पाप धोकर स्वल्पाहारी और जितेंद्रिय होकर आत्मलीनता की साधना करे। मूढ़ता, आसक्ति, काम, क्रोध, दीनता, घमंड, उद्दंडता तथा उद्वेग को त्यागकर तथा मन-इंद्रियों को जीतकर स्वरूपस्थिति का अभ्यास करे। यही मोक्ष पथ है (अध्याय)।

दो सौ पचहत्तर ( )वें अध्याय में सृष्टि उत्पत्ति की कल्पना की गयी है। इसके बाद तत्त्व निर्णय, इंद्रिय–मन आदि के व्यवहार एवं जीवों का कर्म–वश जन्मांतर ग्रहण बताया गया है। आत्मा शरीर से भिन्न, असंग तथा अविनाशी है; अतएव इसके वियोग को लेकर विवेकवान को शोक नहीं होता। यह जीव वस्तुतः किसी का नहीं है और न उसका कोई तथा कुछ है। वह तो सदैव अकेला है, परंतु शरीर को अपना मानकर उसे सुख–दुख भोगना पड़ता है। जीव न उत्पन्न होता है और न मरता है। जब उसे स्वरूपज्ञान होता है तब वह शरीराभिमान छोड़कर मुक्त हो जाता है।

यह शरीर पुण्य–पापमय है। यह धीरे–धीरे क्षीण होकर नष्ट हो जाने वाला है। "पुण्य–पाप कर्मों का क्षय करने के लिए सांख्यज्ञान का विधान है। कर्म के क्षय हो जाने पर जीव ब्रह्मभाव का साक्षात्कार करता है और उसको परम गति शांति की प्राप्ति होती है।" यथा–

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम्

(अध्याय , श्लोक)

दो सौ छिहत्तर ( )वें अध्याय में तृष्णा–त्याग की बात आयी है जो पीछे आ गयी है। दो सौ सतहत्तर ( )वां अध्याय पिता–पुत्र के संवाद रूप में आया है, जिसमें वैराग्य का उद्‌गार है जो पीछे एक सौ पचहत्तर ( )वें अध्याय तथा इस ग्रंथ के इक्यावन ( )वें संदर्भ में आ चुका है।

दो सौ अठहत्तर ( )वें अध्याय में संन्यासी के आचरण बताये गये हैं। युधिष्ठिर ने पूछा–जड़ प्रकृति से पार जो अविनाशी ब्राह्मी स्थिति है, उसे किस स्वभाव, किस आचरण, कैसी विद्या और किन कर्मों से पाया जा सकता है? भीष्म ने कहा–जो मोक्षधर्म में तत्पर, मिताहारी और जितेंद्रिय है, वह उस प्रकृति पार अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष की इच्छा रखने वाला लाभ–हानि में समान–भाव से रहे, मननशील रहे, भोगों तथा घर–द्वार को त्यागकर संन्यास ले ले। नेत्र, मन और वाणी से दूसरे के दोष न देखे, न सोचे और न कहे। किसी प्राणी की हिंसा न करे। सबसे मैत्री भाव रखे। इस नश्वर जीवन में रहकर किसी के साथ शत्रुता न करे। अपनी निंदा चुपचाप सह ले। अहंकार एवं घमंड न करे। किसी के क्रोध करने पर प्रिय वचन बोले। किसी के गाली देने पर भी उसके लिए हितकारी वचन ही बोले। गांवों में, लोगों में किसी का पक्ष–विपक्ष न ले। किसी के द्वारा अपने ऊपर धूल–कीचड़ फेंके जाने पर केवल अपनी रक्षा कर ले। बदले में वैसा न करे, कटु वचन न कहे। सदैव

मीठा बरताव करे। किसी से भी कठोर बरताव न करे। निश्चिंत रहे और किसी से बढ़-बढ़कर बातें न करे।

पेटभर भोजन पाने की इच्छा न करे। हलका भोजन करे। भिक्षा-भोजन न मिलने पर कष्ट न माने और मिलने पर हर्ष न करे। लौकिक लाभ की इच्छा न करे। जहां विशेष आदर-सत्कार हो, वहां जाने की इच्छा न रखे। मोक्ष-इच्छुक को आदर-सत्कार के लाभ से घृणा करना चाहिए। प्राप्त भोजन की न निंदा करे और न प्रशंसा करे। सोने-बैठने के लिए एकांत पसंद करे। सूने घर, वृक्ष के नीचे, जंगल एवं पर्वत की गुफा में या कहीं अज्ञात स्थान में आत्मचिंतन करे। किसी के अनुरोध और विरोध करने पर समभाव में ही रहे। निश्चल और स्थिर चित्त होकर रहे। शुभ-अशुभ कर्मों से दूर रहे। सदा तृप्त तथा संतुष्ट रहे। सदैव प्रसन्न रहे। निर्भय रहे। मौन भाव से वैराग्य में रमे। सब कुछ नश्वर समझकर मोह-शोक-रहित समदर्शी तथा इच्छाहीन रहे। मिताहारी, शांतचित्त तथा इंद्रियजित होकर रहे। वाणी, मन, क्रोध, उदर तथा उपस्थ को वश में रखे। दूसरों द्वारा निंदा पाकर मन में विकार न लावे। अपनी निंदा-प्रशंसा में समान भाव से रहे। असंग, सौम्य, अनिकेत तथा एकाग्रचित्त रहे। पूर्व आश्रम की परिचित जगहों में विचरण न करे। वानप्रस्थों और गृहस्थों के साथ घुल-मिलकर न रहे। अनिच्छा से जो कुछ मिल जाय उसी से निर्वाह ले। प्रिय वस्तु मिलने पर प्रसन्न न हो।

यह संन्यास ज्ञानियों के लिए मोक्षप्रद है परंतु अज्ञानियों के लिए थकान रूप है। हारीत मुनि ने इस संन्यास को ज्ञानियों के लिए मोक्ष का विमान बताया है।

"जो मनुष्य सबको अभयदान देकर घर से निकलकर संन्यासी हो जाता है, वह ज्योतित अनंत आत्मस्थिति को प्राप्त करता है।" यथा–

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते

(अध्याय , श्लोक)

. इंद्र और वृत्र का युद्ध तथा वृत्र का वध

युधिष्ठिर ने कहा–पितामह! हम लोगों को संसार के लोग धन्य-धन्य कहते हैं, परंतु हम लोगों से अधिक दुखी कोई नहीं है। ऐसे उत्तम मानव जीवन में हम महान दुखी हैं। पितामह! संसार के लोग संन्यास को दुखद कहते हैं,

उसका आधार हम कब लेंगे? हमें तो यह शरीर ही दुखमय लगता है। देहाभिमान से मुक्त होकर मुनिजन पुनः देह नहीं धारण करते हैं। हम लोगों का वह दिन कब आयेगा जब राजपाट का बखेड़ा छोड़कर वैराग्य से विचरेंगे?

भीष्म ने कहा–दुख अनंत नहीं है। जगत की सारी वस्तुएं सीमित हैं। पुनर्जन्म भी नश्वर है। इस संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं है। ऐश्वर्य आसक्तिवर्द्धक होने से दुखदायी है, परंतु उसका मोह त्यागकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जीव अपने किये हुए कर्मों से बंधा है। जब वह आत्मज्ञान द्वारा कर्मबंधनों को काट देता है, तब उसके हृदय में स्थित सनातन ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है। इस ब्राह्मी स्थिति को पाने के लिए क्रियात्मक यत्न की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए तो जीवन्मुक्त संतों की उपासना करना चाहिए। अतएव मैं ज्ञानियों को नमस्कार करता हूं।

इसके लिए एक पुराना इतिहास है। वृत्र नाम का असुर इंद्र द्वारा जीत लिया गया। अतएव वृत्र ऐश्वर्यहीन होकर दरिद्र दशा में अकेला रहने लगा। परंतु वह शत्रुओं के बीच में रहकर भी आसक्ति और शोक-शून्य होकर रहता था। शुक्राचार्य ने पूछा–वृत्र! तुम ऐश्वर्यहीन हो गये हो, ऐसी दशा में दुख-रहित होकर रहते हो, इसका कारण क्या है?

वृत्र ने कहा–गुरुदेव! मैं सत्य और तप के प्रभाव से जीवों के आवागमन के रहस्य को जानता हूं। इसलिए मैं क्षणभंगुर सांसारिक वस्तुओं के लिए मोह-शोक नहीं करता। जीव अपने शुभ तथा अशुभ कर्मों से दुख-सुख भोगते हैं और कामनाओं में बंधकर नाना योनियों में भटकते हैं।

इसके बाद शुक्राचार्य ने भगवान विष्णु की महिमा का बखान किया है जो भागवत संप्रदाय की देन है। इसी बीच सनत्कुमार आ गये। फिर उनसे विष्णु का गुणगान करवाया गया। इसके बाद वृत्र विष्णु भगवान में मन लगाकर उनके ध्यान में चला गया। यह सब दो सौ उन्यासी-असी (-)वें अध्याय में वर्णित है।

दो सौ एक्यासी ( )वें अध्याय में इंद्र और वृत्र का युद्ध है। वृत्र असुर पांच सौ योजन ऊंचा था और तीन सौ योजन से कुछ अधिक मोटा था। अर्थात करीब सत्तर हजार किलोमीटर ऊंचा और करीब चालीस हजार किलोमीटर मोटा था। इंद्र और वृत्र में युद्ध आरंभ हुआ। देवताओं के साहस देने पर इंद्र हिम्मत वाला बना और उसने वृत्र को मार गिराया।

वृत्र के शरीर से ब्रह्महत्या निकली जो बड़ी भयंकर थी। वह इंद्र को खोजने लगी और दौड़कर उन्हें धर दबोचा। *'द्विजप्रवरवध्यया'* (,) श्रेष्ठ ब्राह्मण के वध से पैदा हुई ब्रह्महत्या ने इंद्र को हिलने-डुलने नहीं दिया।

ब्रह्मा जी ने ब्रह्महत्या का बड़ा मनुहार किया, मनाया-दनाया, उसे खुश करना चाहा और कहा कि इंद्र देवताओं के राजा हैं, इन्हें छोड़ दो। इसके बदले में तुम जो चाहो वह मैं तुम्हें दे दूं। ब्रह्महत्या ने कहा–आप मेरे निवास का प्रबंध कर दीजिए, घर-दुवार दे दीजिए, बस, मैं संतुष्ट हो जाऊंगी।

ब्रह्मा जी ने ब्रह्महत्या को चार भागों में बांट दिया और उन भागों को अग्नि, वनस्पति, अप्सरा और जल में रख दिया। जब इन चारों ने इससे छूटने का अवसर पूछा, तो ब्रह्मा ने कहा–जो मनुष्य प्रज्वलित अग्नि के पास पहुंचकर उसमें हवन नहीं करेगा, तो अग्नि में स्थापित ब्रह्महत्या उस पर चली जायगी। जो मनुष्य संक्राति, ग्रहण, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्व काल में वनस्पतियों को काटेगा तो उस पर स्थित ब्रह्महत्या काटने वाले पर चली जायगी। जो मनुष्य रजस्वला स्त्री के साथ समागम करेगा, तो अप्सरा में रही हुई ब्रह्महत्या उसके ऊपर चली जायगी। जो मनुष्य जल में थूक, खखार तथा मल-मूत्र डालेगा, तो जल में स्थित ब्रह्महत्या उसके ऊपर चली जायगी। इसके बाद अग्नि, वनस्पति, अप्सरा तथा जल ब्रह्महत्या के पाप के बोझ से मुक्त हो जायंगे। जो ब्राह्मणों के बीच में इस कथा को पर्व के दिन सुनायेगा, वह सभी पापों से मुक्त हो जायगा। इस प्रकार चार अध्यायों में वृत्र की कथा संपन्न हुई (अध्याय -)।

मीमांसा

ऋग्वेद का ठीक से अध्ययन कर लेने वाला यह जानता है कि इंद्र और वृत्र वैदिक शब्द हैं। वृत्र है पर्वत पर जमी बर्फ तथा आकाश में छाये हुए बादल; और इनको नष्ट करने वाले क्रमशः सूर्य और वायु हैं जो इंद्र है। परंतु पीछे पौराणिक कथाकारों ने वेदों के लाक्षणिक अर्थों के साथ अनर्थ करके ज्ञान के क्षेत्र में भ्रम पैदा किया है। वृत्र के शरीर के आकार में अतिशयोक्ति का कमाल है; वस्तुतः वह बर्फ और बादलों का विस्तार है।

जब वृत्र असुर था तब उसको मारने से इंद्र को ब्रह्महत्या क्यों लगेगी? यदि वृत्र ब्राह्मण था तब वह असुर कैसे था? यदि असुर और ब्राह्मण एक बात है, तो इस पर ब्राह्मण कहलाने वाले विचार करें। अध्याय के अंत में फलश्रुति है कि जो इस कथा को पर्व के अवसर पर ब्राह्मणों के बीच सुनायेगा, वह सभी पापों से मुक्त हो जायगा। इससे साफ है कि यह कथा प्रक्षिप्त है।

. महादेव द्वारा दक्ष प्रजापति का यज्ञविध्वंस

गंगाद्वार (हरिद्वार) में दक्ष प्रजापित यज्ञ कर रहे थे। उसमें देवता–दानव, महर्षि, सिद्ध सब इकट्ठे थे, परंतु महादेव नहीं थे। इतने में दधीच आ गये। उन्होंने कहा–यहां महादेव जी को क्यों नहीं बुलाया गया? दक्ष ने कहा–मैं ग्यारह रुद्रों को जानता हूं, और वे यहां विराजमान हैं। इनके अतिरिक्त मैं किसी महादेव को नहीं जानता हूं। दधीच ने कहा–महादेव के न आने से यह यज्ञ यज्ञ नहीं है। वस्तुतः आप दुर्दशा में पड़ने वाले हैं ( )। उधर कैलाश पर पार्वती ने महादेव से पूछा–सभी देव–दानव दक्ष के यज्ञ में जा रहे हैं, परंतु आप वहां क्यों नहीं जा रहे हैं? महादेव ने कहा–यह देवताओं की गुटबंदी है उन्होंने मुझे यज्ञों में भाग देने से इन्कार कर दिया है (, –)।

पार्वती ने दुख से जोर से उश्वास लिया और कहा कि ऐसा कौन–सा उपाय हो सकता है कि मेरे पतिदेव के लिए दक्ष के यज्ञ में आधा–तिहाई कुछ तो भाग मिले।

महादेव ने क्षुभित होकर कहा–पार्वती! तुम मेरे पास रहकर भी मेरे महत्त्व को नहीं जानती हो। मैं संपूर्ण यज्ञों का ईश्वर हूं। तुम्हें मेरे विषय में किस प्रकार की बात कहना चाहिए, यह भी तुम नहीं जानती हो।

पार्वती ने कहा–पतिदेव! यह निश्चित बात है कि अत्यंत गंवार पुरुष भी स्त्रियों के बीच में अपनी विशेषता की अहंकारपूर्ण डींग हांकता है।

महादेव ने कहा–मैं न गर्वोक्ति कर रहा हूं और न डींग हांक रहा हूं। देखते रहियो, मैं अभी दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करवाता हूं।

महादेव ने वीरभद्र नाम का बलवान पैदा किया तो पार्वती ने भद्रकाली पैदा की। फिर हजारों रुद्रगण पैदा हुए। वे सब किलकारी मारकर हरिद्वार पहुंचे और दक्ष के यज्ञ में पहुंचकर पूरे यज्ञ–मंडप को ध्वस्त कर दिये। पशु–बलि के लिए गड़े यूपों (खूंटों) को उखाड़ फेंके। यज्ञ–सामग्री को कुचल और बिखेर दिये और यज्ञ में उपस्थित लोगों को पीट डाले। देवता, दानव, ऋषि भाग–भागकर छिपने तथा अपने प्राण बचाने लगे। पूरी आफत आ गयी।

दो सौ तिरासी ( )वें अध्याय में यह भी आता है कि शिवजी के क्रोध से एक ज्वर नाम का वीर पुरुष प्रकट हुआ। वह यदि एक जगह रहता, तो पृथ्वी उसका भार न सह पाती। इसलिए उसे महादेव ने अनेंक खंडों में बांट दिया। वही हाथियों के मस्तक का ताप, पर्वतों में शिलाजीत, पानी में सेवार, सर्पों में केचुली, गायों–बैलों के खुरों में खोरक नाम का रोग, पृथ्वी में

ऊसर, घोड़ों के गले में मांस का लौंदा, मोरों में पंख, कोकिलों में नेत्र-रोग, भेड़ों में पित्तभेद, तोतों में हिचकी, सिंहों में थकावट, और मनुष्यों में ज्वर नाम से हुआ।

दक्ष जब वीरभद्र के मुख से सुनकर जान पाये कि यह सारा उपद्रव महादेव का करवाया है, तब वे उनकी प्रार्थना करने लगे। महादेव जी अच्छा अवसर समझकर अग्निकुंड में से प्रकट हो गये और बड़ी करुण-मुद्रा से दक्ष को आशीर्वाद देने लगे और उन्होंने कहा–दक्ष! मैं तुम्हारा क्या कल्याण करूं? दक्ष ने कहा–मैंने बहुत समय से बड़ी मेहनत करके यज्ञ-सामग्री इकट्ठी की थी, उसे जला दिया गया, खा-पी लिया गया, नष्ट तथा चूर-चूर कर दिया गया। भगवन! आप प्रसन्न हों।

महादेव प्रसन्न हुए और दक्ष घुटने टेककर उनकी स्तुति करने लगे और उन्होंने एक हजार आठ नामों द्वारा उनका गुणगान किया। यह स्तुति शिव-सहस्त्र नाम से प्रसिद्ध हुई। अध्याय के अंत में श्रुतिफल का भी वर्णन आया है। शिव-सहस्त्र नाम का पाठ करने वाला सभी पापों से छूटकर मनोवांछित फल पाता है (अध्याय -)।

मीमांसा

किसी महादेव-भक्त को शिवसहस्त्र नाम लिखकर यहां जमाना था। उसने ऐसी भद्दी कथा की कल्पना की है जो बचकानी तो है ही, महादेव जी की प्रतिष्ठा भी घटाने वाली है। किसी के उत्सव में किसी का आमंत्रण न हो तो वह क्या उसके उत्सव को इस तरह नष्ट-भ्रष्ट करने लगता है? गुंडे भी ऐसा नहीं करते, फिर महादेव ऐसा कैसे कर सकते हैं? ऐसी कहानियों के लेखकों की शालीनता-सभ्यता की बलिहारी है। पौराणिक कथाओं में जगह-जगह बड़ी अच्छी प्रेरणाएं हैं, परंतु प्रस्तुत प्रसंग जैसी कथाएं तो निरर्थक ही नहीं, अनर्थक हैं। अंत में श्रुतिफल ही बताता है कि उक्त प्रसंग शिवभक्तों का धरघुसेड़ है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है–"यह प्रसंग शिवसहस्त्र नाम स्तोत्र पूना संस्करण में प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है और परिशिष्ट में रखा गया है।" यही स्तोत्र वामन पुराण में वेनकृत माना गया है। इससे मिलता-जुलता दूसरा शिवसहस्त्र नाम अनुशासन पर्व में है जिसे वहां तंडीकृत कहा गया है।"

. **भारत सावित्री, पृष्ठ - ।**

. समंग, नारद और अरिष्टनेमि के वैराग्यपूर्ण प्रवचन

दो सौ पचासी ( )वें अध्याय में पृथ्वी आदि जड़ तत्त्वों से जगत के सारे कार्य–पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन है। देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि से आत्मा अलग है। आत्मज्ञान न होने से जीव संसार–सागर में डूबते हैं, किंतु जो अपने आत्मतत्त्व को सबसे अलग समझता है, वह इस संसार के मोह में नहीं डूबता। देभाभिमानी भयभीत रहता है और जिनका देहाभिमान नष्ट हो चुका है, वह सब समय निर्भय रहता है।

दो सौ छियासी ( )वें अध्याय में नारद जी के पूछने पर समंग जी अपनी ज्ञान स्थिति की बात कहते हैं, वह इस प्रकार है। नारद और समंग दोनों ज्ञानियों का मिलना हुआ। नारद ने समंग से कहा–अन्य लोग सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं, किंतु आप हृदय से प्रणाम करते हैं। लगता है कि आप अपनी भुजाओं से ही संसार–सागर को तैरकर पार हो जायंगे। आप सदैव शोक–शून्य तथा प्रसन्न दिखते हैं। आप सदैव उद्वेग–शून्य नित्यतृप्त तथा बालक की तरह सरल दिखते हैं।

समंग ने कहा–देवर्षि नारद! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य की सचाई को जानता हूं। इसलिए मेरे मन में कभी विषाद नहीं होता। संसार में अंधे, बहरे, प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित, प्रगतिशील तथा मूढ़ सब जीते हैं, वैसा मेरा भी जीवन चलता है। हजारों रुपये वाले जीते हैं, सैकड़ों रुपये वाले जीते हैं और जो केवल साग–पात खाकर निर्वाह करते हैं, वे भी जीते हैं। इसी प्रकार मैं भी जीवन–निर्वाह करता हूं। अज्ञान मिट जाने से मैं सदैव शोक से मुक्त हूं, तो अब मुझे धर्म–कर्म की क्या आवश्यकता है? सुख और दुख दोनों काल के अधीन हैं। अंततः कुछ रहने वाला नहीं है, अतएव मैं शोक नहीं करता हूं।

मन–इंद्रियों के निर्मल बरताव से प्रज्ञा प्रकाशित होती है। राग–द्वेष से लिप्त व्यक्ति की प्रज्ञा प्रकाशित नहीं हो सकती। किसी प्रकार का अहंकार मूर्खता का लक्षण है। अहंकारी लोक–परलोक कहीं भी शांति नहीं पाता। दुख और सुख क्षणिक हैं। जहां सब कुछ भागा जा रहा है, वहां किस वस्तु की वांछा की जाय और किसके लिए शोक किया जाय, जो सबसे विरक्त है वह इच्छाहीन होता है। वह न भविष्य के विषय में आशा करता है और न वर्तमान के हानि–लाभ में पचकता–फूलता है। बंधु–बांधव, संपत्ति, उत्तम कुल, शास्त्र अध्ययन, मंत्र और पराक्रम, ये सब मिलकर जीव को दुखों से मुक्त नहीं कर सकते। शील से,

उत्तम स्वभाव से ही शांति मिलती है– *"शीलेन तु यान्ति शान्तिम्* (,)।"

बिना योग के समता की बुद्धि नहीं आती। योग के बिना स्थिर सुख नहीं मिलता। दुख वाली बात चित्त से हटा देने पर और धैर्य रखने पर मनुष्य सच्चे अर्थ में सुखी होता है। प्रिय वस्तु मिलने पर हर्ष उत्पन्न होता है, हर्ष अभिमान बढ़ाता है और अभिमान नरक में डुबाता है। शोक, भय और अभिमान सुख-दुख में डालकर व्यामोह पैदा करने वाले हैं। इसलिए जब तक शरीर की प्राण-धौंकनी चलती है, तब तक मैं सारे दृश्य को साक्षीभाव से देखता रहूंगा। मैं अर्थ, काम, तृष्णा तथा मोह त्यागकर शोक-संताप-रहित होकर पृथ्वी पर विचरता हूं। मैं मृत्यु से पूर्ण निर्भय हूं। प्रतिकूल परिस्थिति आने पर भी मैं शोक नहीं करता।

दो सौ सतासी ( )वें अध्याय में युधिष्ठिर ने पूछा–पितामह! संशयग्रस्त मनुष्य का कल्याण कैसे होगा? भीष्म ने कहा–गुरुपूजा, वृद्धसेवा तथा शास्त्र-अध्ययन कल्याण के अचूक साधन हैं। एक पुराना इतिहास है। एक समय नारद जी गालव मुनि के आश्रम पर पहुंचे। गालव ने कहा–महाराज! नाना शास्त्र हैं और नाना ज्ञानी हैं। सब अपने मत को श्रेष्ठ कहते हैं। मैं निश्चित कल्याण-पथ किसे समझूं?

नारद ने कहा–गालव! संशय-रहित ज्ञान कल्याणकारी है। सुहृदों पर करुणा करना, दुष्टों को दंड देना और धर्म, अर्थ तथा काम का संपादन करना हितकर है। पापकर्म न करना, निरंतर शुभकर्म करना, सत्पुरुषों के साथ रहकर सदाचार का पालन करना कल्याणकारी है। सब प्राणियों से कोमल बरताव करना, व्यवहार में सरल रहना और मीठे वचन बोलना कल्याणकारी है। अतिथियों की सेवा करना और जिनकी जिम्मेदारी है उनका भरण-पोषण करना कर्तव्य है।

सत्य बोलना श्रेयस्कर है, किंतु सत्य को ठीक से जानना कठिन है। मैं तो उसे ही सत्य मानता हूं जिससे प्राणियों का हित होता है। निर्मानता, प्रमादहीनता, संतोष और एकांतवास कल्याणकारी हैं। स्वाध्याय और सत्यानुसंधान कल्याणकारी हैं। पांचों विषयों के दूषित व्यवहार तथा उनकी आसक्ति का सर्वथा त्याग कल्याणकारी है। रात में घूमना, दिन में सोना, आलस्य, चुगुली, मादक-वस्तु का सेवन तथा अधिक खाने की आदत त्याग देना चाहिए। दूसरों की निंदा करके अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न न करे। सद्गुण मनुष्य की श्रेष्ठता बताते हैं। गुणहीन मनुष्य ही अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करते हैं। यदि उन्हें उत्तर दिया जाय, तो वे अभिमान में भरकर महापुरुषों से भी

अपने को बड़ा बताने की चेष्टा करते हैं। वस्तुतः जो अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निंदा नहीं करता है, वही महान है। फूलों की सुगंधी बिना बोले अपनी महक देती है और सूर्य अपनी प्रशंसा किये बिना सबको प्रकाश देता है। मूर्ख मनुष्य अपनी प्रशंसा करके ख्याति नहीं पाता, किंतु सद्‌गुण संपन्न पुरुष गुफा में छिपा होने पर भी सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है।

बुरी बात हल्ला करने पर भी प्रतिष्ठा नहीं पाती, किंतु अच्छी बात धीरे से कहने पर भी संसार में प्रकाशित हो जाती है। घमंडी डींग हांककर अपने दूषित अंतःकरण को ही प्रकट करता है। कल्याण–इच्छुक अनेक शास्त्रों का अध्ययन करता है, परंतु प्रज्ञा के बल पर सर्वत्र सार ही लेता है। मुझे तो प्रज्ञावान होना ही बड़ा लाभ लगता है। बिना पूछे किसी को उपदेश न करे। कोई अन्यायपूर्वक घमंड में पूछता है तो उसका भी उत्तर न दे। ज्ञानवान तथा मेधावी होकर भी जड़वत चुपचाप बैठा रहे– *"ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत्* (,)।" कल्याणार्थी को चाहिए कि वह सद्‌गुणसंपन्न महापुरुषों एवं संतों के निकट रहकर सेवा–साधना करे। बुरी संगत से हानि और अच्छी संगत से लाभ होता है। जैसे जल, अग्नि और चंद्रमा के संपर्क में आने से मनुष्य को क्रमशः शीतलता, गरमी तथा प्रसन्नता मिलती है, वैसे अच्छे–बुरे लोगों की संगत में उसे अच्छे–बुरे प्रभाव ग्रहण होते हैं।

सबको खिलाकर खाना, भोजन में आसक्त न होना, अच्छी संगत का त्याग न करना, परनिंदा करने वालों से दूर रहना चाहिए और जो पवित्रात्माओं की निंदा करते हैं उनसे तो बहुत दूर रहना चाहिए। जो धन पाने के लिए धर्म का अनुष्ठान करते हैं, उनके पास कभी न रहे; क्योंकि वे पापाचारी होते हैं। उसी राज्य में रहना चाहिए जहां उद्दंडों, डाकुओं, चोरों को दंड दिया जाता हो और प्रजा की रक्षा होती हो।

दो सौ अट्ठासी ( )वें अध्याय में अरिष्टनेमि ने राजा सगर को उपदेश देते हुए कहा है–सगर! संसार में मोक्ष–सुख ही सच्चा सुख है। धन, परिवार, पशु और सांसारिक ऐश्वर्य में आसक्त मनुष्य को मोक्ष–सुख नहीं मिलता। विषयासक्त तथा अशांत मन वालों की चिकित्सा करना कठिन है। स्नेह की रस्सी में बंधा मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नहीं होता।

जब पुत्र जवान हो गया, काम–धंधे में लग गया, तब उसका विवाह कर दे और उसे घर–गृहस्थी सौंपकर विरक्त हो जाय। पुत्र हों या न हों, जब दुनिया का विषय–सुख देख लिए कि इसमें भंगार ही है, तब तो वैराग्य लगना ही चाहिए। राग–द्वेष रहित रहकर तथा प्राप्त पदार्थों में अनासक्त होकर निर्वाह ले।

अनासक्त मनुष्य ही मोक्षदशा में जीवन-यापन करता है। आसक्त मनुष्य तो कीड़े-मकोड़ों की तरह आहार का संचय करते-करते ही मर जाता है। यदि तुम मुक्ति चाहते हो, तो स्वजनों की भी चिंता मत करो कि वे मेरे बिना कैसे रहेंगे। हर प्राणी अपने कर्मों से जन्मता, जीता और मरता है। प्राणी अपने कर्मों के अनुसार फल पाते हैं और जीवनपर्यंत संसार में रहते हैं। तुम्हारा शरीर मिट्टी का लौंदा मात्र है। तुम कौन होते हो? जब तुम्हारे देखते-देखते स्वजन मर जाते हैं और तुम उन्हें नहीं बचा पाते हो, तब तुम क्यों नहीं समझते कि तुम्हारी क्या शक्ति है? स्वजनों के जीते रहते ही तुम मर सकते हो। जो मरकर चला गया, उसके विषय में कुछ नहीं जान सकोगे कि वह सुखी है कि दुखी। तुम जीते रहो या मर जाओ, तुम्हारे स्वजन अपने-अपने कर्मों के ही फल भोगेंगे। अतएव तुम अपनी कल्याण-साधना में लगो। संसार में कौन किसका है?

जिसने क्रोध, लोभ, मोह, काम आदि पर विजय पायी है, वह सदा मुक्त ही है। भोग-वासना से मुक्त मनुष्य मुक्त ही है। बड़ा महल हो तथा हजारों गाड़ी अन्न हो, अपना निर्वाह तो चार हाथ जमीन और एक पसर अन्न से होने वाला है। संसार के प्राणी रोगों से पीड़ित, जीविका के लिए चिंतित और मृत्यु के भय से डरे हुए हैं। विवेकवान संतोष तथा बोध के बल से सदैव निर्भय तथा मुक्त होकर विचरता है। जो इस संसार को कालाग्नि में जलता हुआ देखता है, वह मुक्त ही है। जो पलंग और जमीन, महीन चावल तथा सांवा-कोदो के भात में समता देखता है, मोट-महीन कपड़े में समान बुद्धि रखता है, वह संतुष्ट होता है।

पूरा संसार जड़ कणों का जोड़ है। यहां माल-टाल क्या है? जिसकी दृष्टि में सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय समान हैं और जिसके मन से इच्छा-द्वेष, भय तथा उद्वेग निकल गये हैं वह मुक्त ही है। शरीर तो हाड़-मांस, नस-रक्त, मल-मूत्र का भंडार है। बुढ़ापा आता है। चाम सिकुड़ जाता है। बाल सफेद हो जाते हैं। शरीर दुर्बल तथा चमक-रहित हो जाता है। कमर झुककर कुब्बड़ हो जाता है। बल नष्ट हो जाता है। आंख-कान अपना काम करना बंद करने लगते हैं। प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है। हजारों ऋषि, देवता, राजे, महाराजे संसार से चले गये। संसार में इच्छित भोग दुर्लभ है, दुख सुलभ है। अपनी संतान की गुणहीनता, विरोधी मनुष्यों का सामना सदा दुख देते हैं। इस प्रकार इस दुख भरे संसार से कौन विवेकवान मोक्ष नहीं चाहेगा? संसार की सारहीनता तथा दुखरूपता को देखने वाला प्राणपण से मोक्ष-मार्ग में लग जाता है।

. उसना शुक्र हो गये

दो सौ नवासी ( )वें अध्याय में उसना की कहानी आती है। उस समय इंद्र तीनों लोकों के राजा थे। उन्होंने राक्षसों के अधिपति कुबेर को अपना कोषाध्यक्ष बनाया। उसना ने कुबेर पर कब्जा करके उनका सारा धन ले लिया। कुबेर ने महादेव के द्वार पर गोहार लगाया। महादेव उसना पर कुपित हो गये और उनको मुख में डालकर निगल गये। उसना महादेव के शरीर के भीतर घूमते रहे। महादेव जी जल में खड़े होकर अरबों वर्ष तपस्या करते रहे। उनकी तपस्या से उसना को भी लाभ हुआ। उसना महादेव के शरीर से निकलना चाहे, परंतु महादेव ने अपने सब द्वार रोककर केवल पेशाब–इंद्रिय–द्वार को खोल रखा, तो उसना उसी द्वार से निकल आये। इसलिए उसना का नाम 'शुक्र' पड़ा।

मीमांसा

ऐसी अजीबोगरीब कहानी जिसके न सिर है न पैर, महाकाव्य में वैसे आती है जैसे नाटक में विदूषक। ऐसी बातें लिखने में पंडितों को क्या मजा आता था, यह तो वे ही जानें।

. पराशर मुनि का जनक को उपदेश, पराशर गीता

दो सौ नब्बे ( )वें अध्याय से दो सौ अट्ठान्नबे ( )वें अध्याय तक, इन नौ अध्यायों में दो सौ नब्बे ( ) श्लोक हैं। इसमें पराशर मुनि द्वारा जनक को उपदेश दिया गया है। इसे पराशर गीता कहते हैं। इसके विषय अधिकतम वही हैं जो पीछे अनेक बार आ चुके हैं; जैसे कर्म–फल–भोग, धर्मपूर्वक धन का उपार्जन, अतिथि सत्कार, स्वाध्याय, सेवा, चारों वर्णों के कर्तव्य, सत्संग का महत्त्व, निंदनीय कर्मों का परित्याग, विषयासक्ति की निंदा, तप की प्रशंसा, स्वधर्म–पालन में दृढ़ता, हिंसारहित धर्म इत्यादि। इनके महत्त्वपूर्ण कथन संक्षेप में इस प्रकार हैं–

प्रज्ञावान मनुष्य पाप–पुण्य दोनों कर्मों से ऊपर उठकर मन को समाधिस्थ करता है। अपने ही कर्म सुख–दुख देते हैं, दूसरे के नहीं। जिन कर्मों की मनुष्य निंदा करता है, यदि उन्हें स्वयं करता है, तो वह उपहास का पात्र होता है। डरपोक क्षत्रिय, सर्वभक्षी ब्राह्मण, आलसी वैश्य, क्रियाहीन श्रमिक, सद्‌गुणहीन विद्वान, सदाचारहीन कुलीन, सत्यभ्रष्ट धार्मिक, दुराचारिणी नारी, विषयासक्त

साधु, पेटू मनुष्य, मूर्ख वक्ता, शासनहीन राज्य, अजितेंद्रिय तथा प्रजा-प्रेम-रहित राजा निंदनीय हैं।

मनुष्य जीवन उच्चतम है, अतएव मानव अपने को नीचे न गिरावे। मनुष्य सत्कर्म द्वारा अपने को निरंतर ऊंचा उठावे। पापपूर्ण कर्म से चाहे जितना बड़ा लौकिक लाभ हो, उसे त्याग देना चाहिए। जान-बूझकर पाप-कर्म करना और उसके निवारण करने के लिए पुण्य कर्म करना अपने को धोखा देना है। पाप कर्म करे ही नहीं। कर्मों का फल-भोग जीव को भोगना पड़ता है, इसलिए बुरे कर्म से बचे। बड़े पुरुषों की त्रुटियों का अनुसरण न करे, किंतु उनकी निंदा न करे। धन न्यायपूर्वक प्राप्त करे, न्यायपूर्वक उसे बढ़ावे और उसे अच्छे कार्य में लगावे। कुटुंबियों, आश्रयीजनों तथा नौकरों का पालन उदारता से करे। धर्मपूर्वक धन ठीक है। किसी को कष्ट देकर पाया हुआ धन धिक्कार योग्य है।

संग का रंग चढ़ता है, इसलिए सदैव अच्छी संगत करे और बुरी संगत से दूर रहे। कष्ट उठाकर कमाये हुए धन का दान महा फलदायी होता है। अश्रद्धा से दान करना धिक्कार योग्य है। जैसे डूबता हुआ मनुष्य किसी प्रकार अपने को बचा ले, वैसे इस संसार-सागर में डूबने से अपने को बचाना चाहिए।

मनुष्य उन्नति का काम करे, परंतु यह ध्यान रखे कि उसमें किसी की हिंसा न हो। दूसरों को दुख देकर अपनी उन्नति सोचना अपना पतन करना है। धर्म करने के लिए अधर्मपूर्वक धन संग्रह या धनोपार्जन न करे। राग-द्वेष के अधीन होकर संपत्ति में आसक्ति होती है, तब मोह की कन्या 'रति' आ धमकती है और भूला मनुष्य रति के समान कोई उपलब्धि नहीं मानता। इस पथ में मनुष्य का पतन होता है। मनुष्य जान-बूझकर धन-भोग पाने के लिए पाप करता है। उसका मन स्त्री-बच्चों के मोह में डूबा रहता है। उनमें जब कोई मर जाता है, तब वह शोक में जलता है। विवेकवान अशुभ कर्म त्याग देते हैं, शुभ कर्म करते हैं, परंतु उसके फल की इच्छा त्यागकर आत्मलीनता में रहते हैं। लोगों को तो कुटुंब-धन नष्ट होने पर भी वैराग्य नहीं होता। मानव-मात्र को आत्मकल्याण करने का अधिकार है। असंतोष दुख का कारण है। लोभ मन को चंचल करता है, फिर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। जिसे धर्म, तप, दान आदि करने में संशय होता है, वह नीचे गिरता जाता है। जो मनुष्य अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी दशाओं में सदाचारनिष्ठ रहता है, वही श्रेय प्राप्त करता है।

मनुष्य सहज प्राप्त वस्तुओं का उपभोग करे और स्वयं सदैव सत्य में दृढ़ रहे। जन्म का महत्त्व नहीं है कि कौन कहां जन्म लिया, ज्ञान तथा आचरण का महत्त्व है। देखो-वसिष्ठ, ऋष्य शृंग, वेद, तांड्य, कृप, कक्षीवान, वेदव्यास,

कमठ, यवक्रीत, द्रोण, आयु, मतंग, दत्त, द्रुपद, मत्स्य आदि जहां–तहां जन्म लेकर अपने–अपने क्षेत्र में महान हुए। दया, अहिंसा, अप्रमाद, बड़ों की सेवा, दान, अतिथि–सत्कार, सत्य, अक्रोध, पवित्रता, परदोष दर्शन का त्याग, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता सभी के लिए कल्याणकारी हैं।

पराशर कहते हैं कि हे जनकराज! विद्वान ब्राह्मण शूद्र (श्रमिक) को प्रजापति कहते हैं, किंतु मैं तो उन्हें जगत का प्रधान पालक विष्णु भगवान मानता हूं– *"विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम्* (,)।" जाति से ऊंचा कहलाने वाला मनुष्य यदि बुरे कर्म करता है तो वह पतित हो जाता है। अतएव बुरे कर्म से सबको बचना चाहिए। हिंसा–रहित कर्म ही कल्याणदायी है।

अपनी जान की रक्षा के लिए किसी निरपराध प्राणी को न मारे। उपभोग के साधनों से रहित होने पर भी मनुष्य अपने को हीन न माने। मानव जीवन उच्चतम जीवन है वह चाहे जिस कुल–गोत्र में हो। ऐसे उत्तम मानव–जीवन में रहकर दूसरों से द्वेष करना, सदाचार का अनादर करना तथा सांसारिकता में डूबे रहना अपना पतन करना है।

पराशर कहते हैं–महाराज जनक! आसक्ति का पूर्णतया त्याग ही मोक्ष है। प्राणियों को अभय दान देना सर्वोच्च दान है। कल्याण करने का समय अभी है। मृत्यु किसी की बाट नहीं जोहती। वह अचानक मारती है; अतएव वर्तमान में ही कल्याण कर लेना चाहिए। योगी मन को आत्मा में लगाकर आत्मलीन हो जाता है। "कर्मों का विस्तार दुखदायक होता है और उसको संक्षिप्त कर देना सुखदायक है। सारा विस्तार इंद्रिय–विलास के लिए है और त्याग आत्मा के कल्याण के लिए माना गया है।"

प्रयोजन लेकर मित्र बनते हैं, कुटुंबी का भी अपना स्वार्थ होता है और पत्नी, पुत्र तथा सेवक सब अपने–अपने स्वार्थवश होते हैं। माता–पिता भी परलोक में सहायता नहीं कर सकते। वहां तो अपना सत्कर्म ही साथ देता है। माता, पिता, पुत्र, भाई, पत्नी तथा मित्रगण सोने के सजाये हुए सिक्के के समान शोभा मात्र हैं। अपने कर्मों की थाती ही अपने साथ चलती है। प्राप्त परिस्थिति को अपने कर्मों का फल समझकर जिसका मन वर्तमान में अंतर्मुख हो गया है, वह ऐसा सोचता और आचरण करता है कि जिससे आगे दुख न भोगना पड़े, भवसागर से पार हो जाय। जो उदार, श्रद्धावान, निर्मान और विवेकशील है, वह

. **विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः।**
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ,

विवेकपूर्वक साधना में लगकर अपने उद्देश्य में सफल होता है। जीव के अपने किये हुए कर्म गर्भकाल से फल देने लगते हैं, जैसे वायु भूसी को उड़ा देता है, वैसे मृत्यु विनाशकारी काल का सहयोग पाकर मनुष्य का अंत कर देती है। अतएव सारा प्रमाद छोड़कर आत्मकल्याण की साधना में लग जाना चाहिए (अध्याय -)।

. हंस के अमृत उपदेश, हंस गीता

प्रजापति हंस से साध्यगणों ने पूछा–सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? आपका मन किसमें रमता है? क्या करने से बंधनों से शीघ्र छुटकारा मिल सकता है?

हंस–परमहंस ने कहा–तप, इंद्रिय-संयम, सत्यभाषण तथा मनोनिग्रह उत्तम कार्य हैं। मन की सारी गांठें खोल दे और प्रिय-अप्रिय से निष्काम हो जाय। निष्ठुर वचन बोलकर किसी के दिल को चोट न पहुंचावे। उद्वेगजनक तथा अमंगलकारी वचन न बोले। कटु वचन सुनकर मनुष्य बहुत पीड़ित होता है। अतएव कटुवचन न कहे।

दूसरे के कटुवचन को निर्विकार भाव से सह ले। इससे अपना आध्यात्मिक बल बढ़ता है। जो अपने क्रोध को मार लेता है, मन निर्विकार रखता है, दूसरे के दोष नहीं देखता है, हर समय प्रसन्न रहता है, वह आध्यात्मिक शक्ति में बलवान हो जाता है। मुझे कोई गाली दे, तो मैं बदले में कुछ नहीं कहता हूं। मुझे कोई मार दे तो मैं उसे क्षमा करता हूं। क्षमा, सत्य, सरलता, दयादि सद्‌गुण सुखदायी हैं।

"वेदों का सार सत्य है, सत्य का सार अपने पर पूर्ण नियंत्रण है और नियंत्रण का सार है मोक्ष। यही सब शास्त्रों का उपदेश है। जो वाणी, मन, क्रोध, तृष्णा, पेट और उपस्थ के प्रचंड वेगों का शमन कर देता है, वही ब्राह्मण है और वही मुनि है। क्रोधी से शांतात्मा श्रेष्ठ है, असहनशील से सहनशील श्रेष्ठ है, मनुष्येतर प्राणियों से मनुष्य श्रेष्ठ है, मोही से निर्मोही श्रेष्ठ है।"

. **वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।**
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्
वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णांस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च
अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्टस्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः।
अमानुषान्मानुषो वै विशिष्टस्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः
(शांति पर्व, अध्याय , श्लोक , ,)

जो दूसरे के कठोर वचन सुनकर निर्विकार भाव से मौन रहता है, और दूसरे द्वारा मार पाकर न उसे मारता है और न उसका अहित चाहता है; वह महापुरुष विश्ववंदनीय है। चाहे अपने से बड़ा हो या छोटा, उसके द्वारा गाली, अपमान तथा मार पाकर भी उसे क्षमा कर देना चाहिए। ऐसा निर्मल क्षमाशील ही पूर्ण आत्मशांति पा सकता है।

प्रजापति ने कहा–यद्यपि मैं सब प्रकार से पूर्ण हूं, तथापि मैं श्रेष्ठ पुरुषों एवं संतों की उपासना तथा उनकी संगत करता रहता हूं। न मैं तृष्णा रखता हूं, न क्रोध। मैं कुछ पाने के लिए मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता हूं। मैं किसी भोग को पाने के लिए दौड़धूप नहीं करता हूं।

"जो मुझे गाली देता है, मैं उसको थोड़ी भी गाली नहीं देता हूं। मैं समझता हूं कि अपने मन को मार लेना ही अमृत का द्वार है। मैं यहां एक गोपनीय बात बताता हूं, मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं है।" जैसे बादलों से निकलकर चंद्रमा अपनी चांदनी बिखेरता है, वैसे मानसिक मलों से पार होकर साधक अंतर्ज्योतित हो जाता है और मृत्युकाल को पर्व का दिन मानकर उसकी प्रतीक्षा करता है। आत्मसंयमी पुरुष सर्वोच्च हो जाता है। निर्मल मन के साधक उसका अभिनंदन करते हैं। जो मनुष्य किसी से ईर्ष्या रखता है, वह उसकी बुराई करता है, परंतु उसके गुणों को अपनी जबान पर लाना भी नहीं चाहता है। जिसकी वाणी और मन पूर्ण संयत होकर आत्मलीन हैं, उसने मानो वेद पढ़ लिया, तप कर लिया और उसका त्याग पूरा हो गया।

समझदार मनुष्य कटुवचन कहने वाले अथवा अपमान करने वाले अज्ञानियों को उनके उस दोष को बताकर उन्हें समझाने का प्रयत्न न करे। उनके सामने अन्य की प्रशंसा न करे, अन्यथा वे समझाने वाले पर ही टूट पड़ेंगे। विवेकवान दूसरों द्वारा पाया हुआ अपमान अमृत की तरह पीकर संतुष्ट रहे। वस्तुतः अपमानित मनुष्य सुख से सोता है, किंतु अपमान करने वाला मन में जलता है। क्रोधी मनुष्य के यज्ञ, दान, तप, हवन आदि सारे शुभकर्मों के फलों को यमराज उड़ा ले जाता है। तात्पर्य है कि क्रोधी मनुष्य के सारे शुभकर्म उसकी क्रोधाग्नि में भस्म हो जाते हैं।

जिस मनुष्य के उपस्थ, उदर, वाणी और हाथ संयत हैं, वही धर्म में जीता है। सत्य, संयम, सरलता, दया, धैर्य तथा क्षमा का पूरा सेवन करने से,

---

. **नहि शप्तः प्रतिशपामि किंचिद् दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेदिम्।**
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ,

स्वाध्याय करने से, दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा से रहित रहने से तथा एकांत-सेवन करने से जीवन में शांति मिलती है। जैसे बछड़ा अपनी माता के चारों स्तनों का दूध पीता है, वैसे उपर्युक्त सारे सद्‌गुणों को जीवन में उतारना चाहिए। मुझे सत्य से बड़ी पवित्र वस्तु नहीं समझ में आयी। मैं चारों ओर घूमकर सबसे कहता हूं कि जैसे जहाज समुद्र को पार करने का साधन है, वैसे सत्य भवसागर से तरने का यान है।

मनुष्य जैसे मनुष्यों के साथ रहता है, जैसे मनुष्यों का सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा हो जाता है। जैसे सफेद वस्त्र जिस रंग में रंगा जाता है वह वैसे रंग का हो जाता है, वैसे मनुष्य संत-असंत, तपस्वी-चोर जिसका सेवन करता है, वैसे हो जाता है। सज्जन सदैव साधु का संग करते हैं, उन्हीं से बात करते हैं। इसलिए वे क्षणभंगुर भोगों की तरफ दृष्टि भी नहीं करते। जो सभी सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता को निरंतर समझता है, उसकी तुलना में कोई ज्ञानी नहीं है।

"हृदय के भीतर रहने वाला चेतन पुरुष जब पूर्ण निर्दोष हो जाता है, तब वह अपने कल्याण मार्ग में स्थित हो जाता है। सज्जन उसकी इस उच्च स्थिति से प्रसन्न होते हैं।" किंतु जो पेट-भोग के लंपट, पर-धन को हड़पने वाले तथा कटुभाषी हैं, उन्हें सज्जन दूर से त्याग देते हैं। जो सद्‌गुण-रहित तथा सर्वभक्षी है, सज्जन उससे दूर हटते हैं। सत्यवादी, मिष्टभाषी, कृतज्ञ और धर्मपरायण मनुष्य से ही सज्जन अपना संबंध स्थापित करते हैं।

व्यर्थ बोलने की अपेक्षा मौन रहना अच्छा है। सत्य बोलना वाणी का दूसरा गुण है। प्रिय बोलना वाणी का तीसरा गुण है। धर्मानुकूल बोलना वाणी की चौथी विशेषता है।

प्रश्न–मनुष्य को किसने ढक रखा है? किस कारण से उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता? मनुष्य क्यों मित्रों का त्याग करता है? और किस दोष से वह शांति नहीं पाता?

उत्तर–अज्ञान से मनुष्य ढका है। ईर्ष्या-द्वेष मन में रखने से मनुष्य का हृदय प्रकाशित नहीं होता। मनुष्य प्रलोभन में पड़कर मित्रों का त्याग करता है और विषयासक्ति के कारण शांति नहीं पाता।

. **अदुष्टं वर्तमाने तु हृदयान्तरपूरुषे।**
तेनैव देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै ,

प्रश्न–ब्राह्मणों में कौन पूर्णतया सुख का अनुभव करता है? वह कौन है जो बहुतों के साथ रहकर मौन रहता है? कौन मनुष्य दुर्बल होकर भी बलवान है? और कौन मनुष्य किसी के साथ कलह नहीं करता?

उत्तर–ब्राह्मणों में जो प्रज्ञावान है, अर्थात ज्ञानियों में जो विवेकी है, वही सब समय शाश्वत शांति में रमता है। प्रज्ञावान ही बहुतों के साथ रहकर मौन रहता है। प्रज्ञावान ही दुर्बल होने पर भी बलवान है, और प्रज्ञावान ही किसी के साथ कलह नहीं करता।

प्रश्न–ब्राह्मणों का देवत्व क्या है? उनमें साधुता क्या है? उनकी असाधुता क्या है और उनकी मनुष्यता क्या है?

उत्तर–स्वाध्याय देवत्व है। उत्तम व्रत पालन करना उनमें साधुता है। दूसरों की निंदा करना उनकी असाधुता है। शरीर का छूट जाना उनका सामान्य मानवपन है।

"यह मानव-शरीर कर्म की योनि है और सद्भाव को सत्य कहते हैं।" यथा–

क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते।

(शांति पर्व, ,)

मीमांसा

उक्त पूरा संदर्भ ही अमृत-वचन है। उसमें केवल एक कथन–"मैं गाली पाकर बदले में थोड़ी भी गाली नहीं देता हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि अपने मन को मार लेना ही अमृत का द्वार है। मैं एक गोपनीय बात बताता हूं, मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं है।" यथा–

नाहं शप्तः प्रतिशपामि किंचिद् दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ,

इसमें मनुष्य की सर्वोच्चता तथा सहन द्वारा शांति रूपी अमृत में विश्राम सर्वसार उपदेश है।

. सांख्य और योग

सांख्य और योग का क्या अंतर है? योग कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व माने बिना मोक्ष कैसे होगा? सांख्य कहता है कि ईश्वर की कोई आवश्यकता

नहीं। पुरुष और प्रकृति का भेद जानकर विषयों से पूर्ण विरक्त हो जाय, बस मुक्त ही है। यह बात पूर्ण स्पष्ट है। दोनों अपने-अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। शिष्ट पुरुषों द्वारा दोनों मत मान्य हैं।

योगी योग के बल से राग, मोह, स्नेह, काम और क्रोध को जड़-मूल से विनष्ट करके परम पद पा जाता है। जैसे बलवान मछली जाल को तोड़कर उससे मुक्त हो जाती है, वैसे योग में बलवान साधक मन के पापों का नाश करके मुक्त हो जाता है। योगी पर यमराज तथा मृत्यु का बल नहीं चलता। जैसे कुशल धनुर्धर बाण से लक्ष्य को बेध देता है, वैसे योगी मन को समाधि में लीन कर देता है। साधना द्वारा योगी मन के विकारों को जीतकर आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। चित्त बिना पूर्ण शुद्ध हुए समाधि नहीं लग सकती। फिर यह बताया गया कि सिद्ध योगी सारे जड़-चेतन संसार में जहां चाहे वहां क्षण में जाकर प्रवेश कर सकता है (अध्याय)।

भीष्म ने कहा-"हे नरश्रेष्ठ। अब मैं सांख्य के विषय में कहूंगा। इसमें गुण तो बहुत हैं, परंतु दोष एक भी नहीं है। इसमें एक भी भूल नहीं दिखायी देती।" सांख्य संसार की नश्वरता को निरंतर देखता है। वह वेद के फलश्रुतियों, उसके कर्मकांड ओर स्वर्ग के प्रलोभनों की पोलपट्टी समझता है। संसार के सभी पदार्थ एक दूसरे के आश्रित हैं, किंतु मोक्ष स्वतंत्र पद है। संसार के प्राणी एक दूसरे को खाने में लगे हैं। बालक विवेकहीन होता है। बुढ़ापा विनाश की तरफ होता है। राग-द्वेष भयंकर दुखद हैं। सब जीव विषय-लंपट हैं। विरक्त ही मोक्ष-मार्ग में लगता है। वेदवाक्यों से मोक्ष दुर्लभ है, क्योंकि वे स्थूल प्रार्थना और कल्पित स्वर्गपरक हैं। दुनिया की चाही हुई वस्तु मिल जाय तो भी उससे उदास रहे। शब्दादि सारे विषय दुखरूप हैं। शरीर छूट जाने पर उसकी घृणित दशा हो जाती है, उस पर ध्यान दो। घर-परिवार का मोह महा दुखदायक है। लोग नशा और व्यभिचार में प्रमत्त होते हैं। वेदों के दिखाऊ स्वर्ग-परक वचन, ऋतुओं का परिर्वतन, दिन, पक्ष, मास, वर्ष की गतिशीलता को देखो। धन-परिवार का नाश देखो। संयोगों, युगों, पर्वतों, सरिताओं आदि की क्षयशीलता को देखो। जन्म, मृत्यु तथा जरा अवस्था पर

. **यस्मिन् न विभ्रमाः केचिद् दृश्यन्ते मनुजर्षभ।**
गुणाश्च यस्मिन् बहवो दोषहानिश्च केवला

(शांति पर्व, अध्याय , श्लोक)।

ध्यान दो। देह के दोषों तथा समय-समय से उसमें होने वाली व्याकुलता पर ध्यान दो। अपने मन के उठने वाले दोष, शरीर में से उठने वाली दुर्गंधी को देखो।

कपिल सांख्य मतावलंबी शरीर में पांच दोष बताते हैं–काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास। सत्पुरुष क्षमा से क्रोध का, संकल्प-त्याग से काम का, सत्वगुण से निद्रा का, अप्रमाद से भय का और अल्पाहार से श्वास पर संयम करते हैं। सांख्य के विद्वान गुणों, दोषों तथा हेतुओं को तत्त्वतः समझकर संसार को पानी के फेन की तरह नश्वर, दीवार पर बने चित्र के समान, नरकुल के समान सारहीन, अंधकार से भरे हुए गड्ढे के समान भयंकर, वर्षाकाल पानी के बुलबुले के समान नश्वर, सुखहीन, पराधीन, नाशवान, कीचड़ में फंसे हाथी की तरह, रजो-तमो गुण में डूबा हुआ समझते हैं। इसलिए वे विवेक से सारे मोह-बंधनों को काट डालते हैं।

संसार घोर सागर है। इसमें दुख का जल, चिंता-शोक के कुंड, रोग-मृत्यु रूप ग्राह, भय सांप, रजो-तमो गुण कछुए और मछलियां, स्नेह कीचड़, बुढ़ापा दुर्गमता तथा नाना कर्म विघ्न हैं। ज्ञान ही उसमें द्वीप है। सांख्य-ज्ञानी अपने अमृतस्वरूप में स्थित होकर पुनः संसार में नहीं लौटते हैं।

युधिष्ठिर ने पूछा–पितामह! विदेह मुक्त आत्मा को संसार का ज्ञान रहता है कि नहीं। यदि संसार का ज्ञान रहता है, तब तो वह प्रपंच में ही पड़ा रहता है और यदि कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है, तब तो जड़ हो गया। फिर मोक्ष से क्या फायदा?

भीष्म ने कहा–देहधारी इंद्रिय और मन से ही संसार को जानता है। जहां देह, इंद्रिय, मन आदि समस्त दृश्य का अभाव है, वहां संसार का ज्ञान असंभव है। देह में रहते हुए भी गाढ़ी नींद में संसार का कोई ज्ञान नहीं रहता। विदेहमोक्ष जगत-ज्ञान से परे शांत स्वरूप है।

"हे राजन! महाप्राज्ञ सांख्य योगी परम गति को प्राप्त होते हैं। हे कौंतेय! सांख्य के समान अन्य कोई ज्ञान नहीं है। वेदों में, सांख्यों में, योगशास्त्रों में तथा पुराणों में जो अनेक उत्तम ज्ञान देखे जाते हैं, वे सब सांख्य से आये हुए हैं। बड़े-बड़े इतिहासों में, सज्जनों द्वारा सेवित अर्थशास्त्रों में और संसार में जो कुछ भी ज्ञान देखा जाता है, वह सब सांख्य से ही आया हुआ है। सांख्य ज्ञान अत्यंत विशाल और पुराना है। यह महा समुद्र के समान अगाध, निर्मल, उदार

भावों से भरा अत्यंत सुंदर है। इस अद्वितीय सांख्य ज्ञान को नारायण भी धारण करते हैं।" (अध्याय)।

मीमांसा

सांख्य-योग में खास फर्क नहीं है। सांख्य दर्शन है और योग उसका साधनात्मक पक्ष है। आज-कल जो सांख्य दर्शन नाम से एक शास्त्र सूत्र रूप में उपलब्ध है, वह कपिल की रचना नहीं है। उसे शंकराचार्य आदि विद्वान नहीं जानते हैं। कपिल की रचना षष्टितंत्र था जो हजारों वर्ष से लुप्त है। उनके सिद्धांत का प्रौढ़ शास्त्र ईश्वरकृष्ण रचित 'सांख्य कारिका' है जो प्रामाणिक है। सांख्य प्रकृति-पुरुष दो का विवेचन करता है। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है जो नाना है। प्रकृति तथा उसके कार्य पदार्थ जड़ दृश्य का मोह त्यागकर पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही उसका असंगत्व या कैवल्य है।

योग में भी सांख्य का ही मत है। योग दर्शन में पतंजलि ने ईश्वर एक पुछल्ला लगा दिया है जो केवल लोकरंजन के लिए है। न वह सृष्टि रचता है, न जीवों को प्रेरणा देता है, न कर्म-फलभोग देता है। वह तो सब समय मुक्त रहता है। योगदर्शन में कहीं भी ईश्वर-दर्शन तथा उसे प्राप्त करने की बात नहीं आती है, अपितु वासना छोड़कर कैवल्य प्राप्त करने की बात आती है। अतएव योगदर्शन का ईश्वर ईश्वरवादियों के लिए चटुआ मात्र है। जब योगदर्शन में ईश्वर बैठा ही दिया, तब उसको कुछ काम देना ही पड़ा। तो पतंजलि ने लिखा कि ईश्वर साधक की साधना में सहयोग करता है। परंतु सहयोग करने के लिए तो उसे देहधारी होना पड़ेगा। अतएव यह ईश्वर द्वारा सहयोग भी एक मनोरंजन है। अतएव ऊपर से लदा ईश्वर यदि दृष्टि से हटा दिया जाय, तो सांख्य और योग में

. **सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम्।**
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते
ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र
यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्
सांख्यं विशालं परमं पुराणं महार्णवं विमलमुदारकान्तम्।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम्
(शांति पर्व, अध्याय)

अंतर नहीं है। जहां तक चमत्कारपूर्ण सिद्धियों की बात है, वह मिथ्या महिमा है। योगसिद्धि का तात्पर्य है आत्मसंतुष्ट हो जाना, आकाश में उड़ना नहीं।

. क्षर, अक्षर तथा सांख्य विवेचन

युधिष्ठिर ने पूछा–पितामह! क्षर तथा अक्षर तत्त्व क्या है? भीष्म ने कहा–एक बार कराल जनक और वसिष्ठ के संवाद में इस तत्त्व का विवेचन हुआ था। कराल नाम के जनक थे। उन्होंने वसिष्ठ से इस विषय में पूछा था, तो मित्रावरुण-पुत्र वसिष्ठ ने कहा था–संपूर्ण पांच भौतिक जगत प्रतिक्षण क्षीण होता है, इसलिए जगत प्रकृति क्षर है; और इससे भिन्न चेतन पुरुष निर्विकार होने से अक्षर है। चेतन पुरुष प्रकृति के साथ रहने से अपने निर्मल स्वरूप का विस्मरण कर शरीर को ही अपना स्वरूप मानने लगता है और कहता है कि मैं यह हूं, मैं वह हूं, मैं अमुक का पुत्र हूं, अमुक मेरी जाति है। इस प्रकार वह स्वयं अक्षर, अक्षय होकर अज्ञानवश क्षयशील शरीर के नाम-रूप में उलझ जाता है (अध्याय)।

इसी देहाभिमान वश यह चेतन नाना योनियों में भटकता है। स्वयं दुखहीन होकर देहोपाधिवश दुख भोगता है। उसे कभी सिरदर्द होता है, कभी उसकी आंखें दुखती हैं, कभी दांत में पीड़ा होती है और कभी गले में मांसपिंड बढ़कर दुख देता है। इतना ही नहीं, देहधारियों को जलोदर, तृषारोग, ज्वर, गलगंठ, विसूचिका, कोढ़, अग्निदाह, मृगी तथा प्रकृति से उत्पन्न अनेक रोग होते हैं। यह अनेक द्वंद्वों में दुखी रहता है। यह जीवन-यात्रा में नाना उपद्रव सहता है। यह चेतन पुरुष अमृत होकर अपने को मरणधर्मा मानता है।

प्रकृति, महतत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, हाथ, पैर, मुख, गुदा, शिश्न तथा मन, ये चौबीस तत्त्व क्षर हैं और इनसे ऊपर पचीसवां चेतन आत्मा अक्षर है (-)।

वेद-शास्त्र के वचनों को याद रखकर भी जो उसके तत्त्व को नहीं जानता, उसका शास्त्र-अध्ययन निष्फल है। वह तो केवल शास्त्रों का बोझा ढोता है। "योगी जिस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, सांख्य-चिंतक भी उसी का साक्षात्कार करते हैं। अतएव जो सांख्य और योग को एक समझता है, वही बुद्धिमान है।"

. **यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते।**
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ,

योगी का परम बल ध्यान है। शारीरिक क्रिया, भोजन तथा शयन के बाद हर समय ध्यान करना चाहिए। विषयों से मन हटाकर आत्मा में लगावे। योगी सबकी आसक्ति छोड़ दे, थोड़ा खाये, मन-इंद्रियों को वश में रखे और रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में ध्यान द्वारा मन को आत्मा में लगावे। ध्यान में अविचल हो जाय, निष्कंप, पर्वत की तरह अचल। वह न सुनता है, न सूंघता है, न स्वाद लेता है, न देखता है, न स्पर्श करता है, न कुछ सोचता है, अभिमान-शून्य होकर आत्मलीन रहता है। यही ध्यान है। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर किससे क्या बोले? वह तो अपने हृदय में विद्यमान अंतरात्मा में ही रमता है। वह क्षेत्र को जानता है, इसलिए क्षेत्रज्ञ कहलाता है; और शरीर में शयन करने के कारण पुरुष कहलाता है *'पुरिशेते पुरुषः'*। शरीर रूपी पुर में शयन करता है, इसलिए चेतन पुरुष है। सांख्य दर्शन ही सम्यक दर्शन है। जो इसे जानते हैं वे अपने आप में शांत हो जाते हैं। प्रकृति-पुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन ही सम्यक दर्शन है। त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति से सर्वथा भिन्न निर्गुण चेतन पुरुष परम है। 'सर्व' नाम है अव्यक्त प्रकृति का और उससे भिन्न पचीसवां तत्त्व चेतन पुरुष है। उसे 'असर्व' कहा जाता है। जो इसे जानता है, वह आवागमन से मुक्त हो जाता है (अध्याय)।

जब चेतन पुरुष जान लेता है कि मैं जड़ प्रकृति से अलग हूं, तब उससे छूटकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। तब उसे लगता है–ओह! मैं कहां भटक रहा था? जैसे मछली अज्ञानवश जाल में फंस जाती है, वैसे मैं आज तक जड़ प्रकृति में फंसा भटकता रहा। मुझ मूढ़ को धिक्कार है जो एक शरीर से दूसरे शरीर को धारणकर संसार-वन में भटकता रहा। मेरा सच्चा बंधु तो मेरा आत्मा ही है। अब मैं जड़ प्रकृति जाल में नहीं भटक सकता। मैं अपने में स्थिर हूं। मैं निर्विकार होकर विकारी प्रकृति का साथ कर ठगा जाता रहा। अब मैं नहीं ठगाऊंगा। मैं अब निरंतर निर्मल, असंग स्वरूप में स्थित हूं। सांख्य और योग दो शास्त्र हैं, किंतु वे वस्तुतः एक हैं (अध्याय)।

श्रद्धालु, परनिंदा-रहित, विशुद्ध, क्षमाशील, पर-हितैषी, एकांतवासी, विवादहीन, मन-इंद्रिय-संयमी व्यक्ति उपर्युक्त ज्ञान का अधिकारी है। संसार अगाध-सागर है। इससे वही तर सकता है जिसमें निर्मलता, श्रद्धा, वैराग्य, आत्मज्ञान तथा वासना-त्याग की रहनी है (अध्याय)।

भीष्म ने कहा–एक बार जनक वंश का कोई राजकुमार शिकार की टोह में एक निर्जन वन में घूम रहा था। उसे एक मुनि बैठे दिखे। उसने उनके पास जा तथा उनका प्रणाम कर उनसे प्रश्न किया–महाराज! इस विषयासक्त मनुष्य का कल्याण कैसे होगा? मुनि ने कहा–कल्याण चाहते हो तो अपने मन-इंद्रियों को

अपने वश में करो और प्राणिमात्र के प्रति हित की भावना रखो। इस मूर्ख मनुष्य की काम-पिपासा तृप्त नहीं होती। इसे ऊंचे वृक्ष में लगा हुआ मधु छत्ता ही दिखता है। वहां से गिरकर प्राणांत हो सकता है, यह तथ्य नहीं दिखता। मनुष्य गांव में रहे या वन में, मन शुद्ध होना चाहिए। मन में शुभ तथा अशुभ दोनों विचार आते हैं। कल्याण चाहने वाले को चाहिए कि वह अशुभ विचार को हटाकर शुद्ध विचार मन में रखे। अब तक गलत रास्ते पर थे, किंतु सही रास्ता पकड़ो। सत्संग से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है। राजन! तपस्वी, धर्मात्मा एवं ज्ञानी पुरुषों की सेवा तथा सत्संग से तुम्हें सही बुद्धि मिलेगी और उसी से तुम्हारे जीवन में परिवर्तन आयेगा और अशुभ से हटकर शुभ गुण जीवन में बसेंगे। इसी से कल्याण संभव है। राजकुमार ने मुनि का उपदेश सुनकर उसका अनुसरण किया और अपनी बुद्धि को धर्म में लगाया (अध्याय)।

. सांख्य मत और याज्ञवल्क्य

तीन सौ दस ( )वें अध्याय से याज्ञवल्क्य जनक को सांख्य मत के अनुसार उपदेश देते हैं। वे सब वही बातें हैं जो पीछे देख चुके हैं। यह तीन सौ सोलह ( )वें अध्याय तक चलता है। तीन सौ सत्तरह ( )वें अध्याय में मृत्युसूचक लक्षण बताये गये हैं जो एक मान्यता है।

तीन सौ अठारह ( )वें अध्याय में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मुझे सूर्य से शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त हुआ।

याज्ञवल्क्य की रचना शतपथ ब्राह्मण है जो शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण है। उसी का अंतिम चौदहवां कांड बृहदारण्यक उपनिषद् है जो ब्रह्मज्ञान एवं आत्मज्ञानपरक है। वैशंपायन याज्ञवल्क्य के मामा थे, वे याज्ञवल्क्य से असंतुष्ट थे। जनक के यज्ञ में याज्ञवल्क्य ने दक्षिणा में प्रचुर धन पाया। उसमें उन्होंने आधा धन मामा वैशंपायन को दे दिया।

याज्ञवल्क्य ने अपने सारे ग्रंथ शिष्यों को पढ़ाया। विश्वावसु नाम के गंधर्व ने याज्ञवल्क्य से चौबीस प्रश्न किये और पचीसवें में उन्होंने त्रयी, वार्ता और दंड विद्या के जो प्रथम है उस आन्वीक्षिकी विद्या को पूछा। वे प्रश्न और उत्तर इस प्रकार हैं–

. विश्व क्या है?	अव्यक्त प्रकृति।
. अविश्व क्या है?	निष्कल आत्मा।
. अश्वा क्या है?	अव्यक्त प्रकृति।

. अश्व क्या है?	पुरुष (आत्मा)।
. मित्र क्या है?	पुरुष।
. वरुण क्या है?	जड़ प्रकृति।
. ज्ञान क्या है?	जड़ प्रकृति।
. ज्ञेय क्या है?	निष्काम आत्मा।
. ज्ञाता क्या है?	निष्कल पुरुष।
. अज्ञ क्या है?	जड़ प्रकृति।
. क कौन है?	पुरुष।
. तपस्वी कौन है?	प्रकृति।
. अ-तपस्वी कौन है?	पुरुष।
. सूर्य कौन है?	प्रकृति।
. अतिसूर्य कौन है?	पुरुष।
. विद्या क्या है?	पुरुष।
. अविद्या क्या है?	प्रकृति।
. वेद्य क्या है?	पुरुष।
. अ-वेद्य क्या है?	प्रकृति।
. चल क्या है?	प्रकृति।
. अचल क्या है?	पुरुष।
. क्षय क्या है?	प्रकृति।
. अक्षय क्या है?	पुरुष।
. विनाशशील क्या है?	प्रकृति।

कौटिलीय अर्थशास्त्रम् के आरंभ में चार विद्याएं बतायी गयी हैं– आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंड। सांख्य, योग और लोकायत आन्वीक्षिकी है। वैदिक कर्मकांड त्रयी है; कृषि, व्यवसाय तथा गौ-पालन वार्ता है और राजनीति दंड विद्या है। उक्त चारों विद्याओं में आन्वीक्षिकी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जो सांख्य, योग और लोकायत है। मुख्य सांख्य है, योग उसका साधनात्मक पक्ष है और लोकायत लोक व्यवहार है। ये तीनों मिलकर आन्वीक्षिकी विद्या है।

कुछ लोग आत्मा और परमात्मा अलग-अलग मानते हैं, किंतु विवेकवान आत्मा ही को परमात्मा मानते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा निम्न कुल

कहे जाने वाले से ही क्यों न हो, जहां से आत्मज्ञान प्राप्त हो, श्रद्धापूर्वक वहां से ले लेना चाहिए और ज्ञानदाता पर सदा श्रद्धा रखना चाहिए। जब ब्रह्म के अंग ही से सब मनुष्य पैदा हुए हैं, तब मनुष्य मूलतः ब्राह्मण ही हैं। मानव मात्र में कोई भी हो, जो आत्मज्ञान में लीन है, वही मुक्त है। सांख्य और योग शास्त्र का अध्ययन करके सार यह निकला कि मैं प्रकृति से भिन्न शाश्वत चेतन पुरुष हूं।

"युधिष्ठिर! केवल आत्मा ही अपना है। उससे बढ़कर दूसरा कौन अपना हो सकता है? तुम यही सदा मानो। इसके अलावा कुछ मत सोचो।" आत्मज्ञान द्वारा संसार-सागर से पार हो सकते हो, यज्ञों द्वारा नहीं (अध्याय)।

. राजा जनक और संन्यासिनी सुलभा का संवाद

युधिष्ठिर ने पूछा–पितामह! जहां बुद्धि भी विलीन हो जाती है, उस मुक्ति को क्या गृहस्थ भी पा सका है? भीष्म ने कहा–मिथिला के राजा जनक गृहस्थ और राजा होकर भी जीवन्मुक्त थे। अच्छे लोग यही कामना करते थे कि हम जनक-जैसे हो जायं। उसी समय 'सुलभा' नाम की एक संन्यासिनी थी जो ज्ञान और आचरण से संपन्न होकर सर्वत्र भ्रमण करती थी। उसने मिथिला-नरेश जनक की प्रशंसा सुनी। सुलभा युवती और सुंदरी भी थी। वह भिक्षा प्राप्त करने के बहाने जनक की सभा में जा पहुंची। राजा जनक ने सोचा कि यह कहां से आयी है और कौन है! राजा ने सुलभा का स्वागत किया। जब सुलभा ने भोजन कर लिया तब उसने ज्ञानियों से घिरे जनक से कुछ पूछना चाहा। सुलभा को संशय था कि जनक जीवन्मुक्त हैं कि नहीं। सुलभा ने अपने नेत्रों और प्रेमभावों से जनक पर गहरा प्रभाव डाला और उनके चित्त को बांधकर उन्हें अपने वश में कर लिया। वे दोनों ज्ञानी अपना विशेषण छोड़कर बात करने लगे।

जनक ने कहा–भगवति! आप कहां से आयी हैं, किसकी हैं, आपको संन्यास की दीक्षा कहां से मिली है और आप कहां जायंगी? मैं राजछत्र आदि त्यागकर इस समय आपके सामने उपस्थित हूं। आप मुझे जान लें। आप सम्मान योग्य हैं। मैं आपका सम्मान करता हूं। मैंने जिस गुरु से ज्ञान प्राप्त किया था वे पंचशिख हैं। मैं उनका परमप्रिय शिष्य हूं। सांख्यज्ञान, योगविद्या और राजधर्म के उपदेश मुझे उन्हीं से मिले हैं। पहले कभी मेरे गुरु भ्रमण

. **आत्मा ह्येवात्मनो ह्येकः कोऽन्यस्तस्मात्परो भवेत्।**
एवं मन्यस्व सततमन्यथा मा विचिन्तय ,

करते-करते मेरे यहां आ पहुंचे और उन्होंने यहीं चौमासा वर्षावास किया। मेरे गुरु पंचशिखाचार्य सांख्य के परम ज्ञाता हैं। उन्होंने मुझे सांख्य, योग और राजनीति का ज्ञान दिया, किंतु मुझे राजकाज से दूर होने की बात नहीं कही। मैं गुरु का उपदेश पाकर विषयों से पूर्ण विरक्त होकर अपने केवल परमपद में स्थित हूं। आत्मज्ञान से वैराग्य होता है और वैराग्य ही मोक्ष का कारण है। मनुष्य आत्मस्वरूप में स्थित होकर काल को लांघ जाता है। मेरा मोह दूर हो गया है। मैं समस्त संबंधों से छूट चुका हूं। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही मेरी बुद्धि निर्द्वंद्व हो गयी है। जैसे भुने हुए बीज नहीं उगते, वैसे मेरे कर्मबीज ज्ञानाग्नि में जल गये हैं। न मेरी बुद्धि विषयों में राग करती है और न शत्रु के प्रति वैर करती है। पूजा करने वाले और पीड़ा देने वाले के प्रति मैं समान भाव रखता हूं, न किसी से राग और न किसी द्वेष।

मैं आत्मकाम और सदैव सुखपूर्ण हूं। मैं मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्णखंड एक समान समझता हूं। आसक्ति-रहित होकर राजकाज करता हूं। अतएव दूसरे त्रिदंडी स्वामियों से मेरा स्थान ऊंचा है। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष है और कुछ लोग कहते हैं कि कर्मनिष्ठा से मोक्ष है। किंतु मेरे गुरु ने इन दोनों से भिन्न तीसरा रास्ता बताया है कि यम-नियम से चलकर गृहस्थ भी मुक्त हो सकते हैं और काम-क्रोध आदि में फंसकर संन्यासी भी बंधन में पड़ सकते हैं। संन्यासी त्रिदंड धारण करते हैं और गृहस्थ राजा छत्र-चंवर। यदि त्रिदंड धारण करने वालों को ज्ञान द्वारा मोक्ष मिल सकता है तो छत्र-चंवर धारण करने पर राजा को ज्ञान द्वारा क्यों नहीं मोक्ष हो सकता? दोनों तो परिग्रही हैं। एक त्रिदंड का परिग्रही है, तो दूसरा छत्र-चंवर का। यदि त्रिदंड बंधन नहीं, तो छत्र-चंवर बंधन क्यों? संन्यासी भी कुछ छोड़ता है तो कुछ ग्रहण करता ही है। निग्रह तथा अनुग्रह करना अपना आधिपत्य जमाना है, और ये संन्यासी तथा राजा दोनों में है। वे दोनों किसी को दंड देते हैं और किसी को पुरस्कृत करते हैं। ज्ञानी भी शरीर पर प्रभुत्व रखता है, उसको अपने वश में रखता है और मुक्त हो जाता है। मैं तो मानता हूं कि गेरुवे वस्त्र, सिर मुंडन तथा दंड-कमंडलु संन्यास का चिह्न मात्र है। इनके द्वारा मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि दुखों से मोक्ष पाने के लिए ज्ञान ही उपाय है, तो जितने भी चिह्न धारण किये जातें हैं, सब निरर्थक हैं। यदि दंड-कमंडलु तथा काषाय वस्त्र आदि धारण करने से संन्यासियों को कुछ सुविधा मिलती है, तो यही बात राजछत्र धारण करने में भी क्यों न समझा जाय! न तो अकिंचनता से मोक्ष है और न संपन्नता से, अपितु दोनों अवस्थाओं में ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

इसलिए धर्म, अर्थ, काम एवं राज्यपरिग्रह में रहते हुए मुझे आप जीवन्मुक्त समझें। मैंने त्याग–वैराग्य रूपी तलवार को मोक्ष रूपी पत्थर पर रगड़कर तेज कर लिया है और उससे स्त्री, पुत्र तथा राजकाज के समस्त ऐश्वर्य का बंधन काट डाला है। अतएव मैं जीवन्मुक्त हूं।

संन्यासिनी! आप में योगप्रभाव देखकर मैं आपका आदर करता हूं, परंतु आपका यह रूप–सौंदर्य आपके योग–संन्यास की योग्यता के विरुद्ध है। सुकुमारता, सौंदर्य, मनोहरता योग के विरुद्ध हैं। आपमें यह सब है, आपमें योग–संन्यास कैसे है? यह मेरे मन में संशय है। आपके संन्यास–चिह्न आपके हावभाव के विरुद्ध हैं। मेरी जीवन्मुक्ति की परीक्षा लेने के लिए आपने मुझे अभिभूत कर दिया है। यदि योगयुक्त व्यक्ति कामभोग में है, तो उसका संन्यास–चिह्न व्यर्थ है। आपका बरताव आपके संन्यास–चिह्न के विरुद्ध है। यदि आपने अपने स्वरूप को छिपाने के लिए ऐसा किया है, तो जीवन्मुक्त व्यक्ति आत्मगोपन नहीं करता। आप किस कारण से मेरे राज्य में आयीं और मेरे ऊपर अधिकार जमाने की चेष्टा की हैं? आप ब्राह्मण हैं, मैं क्षत्रिय हूं, अतएव आप वर्णसंकर–दोष न पैदा करें। आप संन्यासी हैं, मैं गृहस्थ, अतएव आपके द्वारा आश्रम–संकर का दोष नहीं पैदा करना चाहिए। मैं यह नहीं जानता कि आप सगोत्र हैं अथवा अ–सगोत्र। आप भी मेरे विषय में कुछ नहीं जानतीं। अतएव मुझ सगोत्र में गोत्रसंकर न करें।

यदि आपके पति जीवित हैं या परदेश में हैं, तो आप परायी स्त्री होने से मेरे लिए अगम्य हैं। अतएव आपका यह बरताव धर्मसंकर नाम का चौथा दोष है। आपने अपने अहंकारवश यह सब किया है। यदि आप स्वतंत्र हैं, तो आपने जो कुछ पाया है, उसे व्यर्थ कर दिया है। आपने अपनी करनी से अपना दोष प्रकट कर दिया है। इसलिए आप दुष्टा जान पड़ती हैं। आप अपनी विजय चाहती हैं। आपने केवल मुझे नहीं, अपितु मेरी पूरी सभा को जीतने की चेष्टा की है। आप अपनी असहनशीलताजनित योग समृद्धि के मोह में पड़कर विष और अमृत के समान काम और योग का संबंध जोड़ रही हैं। आप मेरा स्पर्श न करें। मेरे चरित्र को निष्कलंक और उत्तम समझें। आप अपने संन्यास–धर्म का निरंतर पालन करती रहें। यदि आप अपने कार्य के लिए अथवा दूसरे राजा के कार्य के लिए यहां आयी हैं, तो आपको सत्यता प्रकट करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी सच्चे आदमी के पास बनावटी वेष करके न जाय। क्योंकि ऐसा करने से उसे ही हानि उठानी पड़ जायगी। अतएव संन्यासिनी ! आपको अपनी जाति, शास्त्रज्ञान, चरित्र, अभिप्राय, स्वभाव तथा आने का प्रयोजन सही–सही बताना चाहिए।

राजा जनक के उपर्युक्त दुखदायी, अयोग्य और असंगत वचनों को सुनकर भी सुलभा किंचित विचलित नहीं हुई। जब राजा जनक बोलना बंद कर दिये, तब सुलभा ने अपना भाषण देना आरंभ किया।

सुलभा ने कहा–राजन! ज्ञान का पहला लक्षण है वाणी सत्य, प्रिय, उपयोगी, अल्प और व्यवस्थित बोली जाय। वक्ता, श्रोता तथा वाक्य जब सम स्थिति में आते हैं, तब वाणी की सार्थकता होती है। जब वक्ता श्रोता की अवहेलना करके दूसरे के लिए बात कहने लगता है, तब वह बात श्रोता के पल्ले नहीं पड़ती। वक्ता और श्रोता दोनों के लिए अनुकूल बात होना वक्तव्य का महत्त्व है। राजन! आपने पूछा था कि आप कौन हैं, किसकी हैं और कहां से आयी हैं। जैसे काठ के साथ लाह और धूल के साथ पानी की बूंदें मिलकर एक हो जाती हैं, वैसे कई तत्त्वों के मिश्रण से देह बनती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पाचों विषय तथा आंख, नाक, कान, जीभ और चाम ये पांचों ज्ञानेंद्रियां आत्मा से सर्वथा पृथक होकर भी आत्मा से जुड़े हैं। परंतु पांचों विषयों तथा इंद्रियों में कोई स्वतंत्र प्रेरणाशक्ति नहीं है। इनमें किसी इंद्रिय को न अपना ज्ञान है न अन्य का। आंख अपने को नहीं जानती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां भी ज्ञानविहीन हैं। अनेक तत्त्व, इंद्रिय–मन आदि सब जड़ हैं। माता के गर्भ में कलल, बुदबुद, मांसपिंड, अंग आदि बनकर नौ महीने के बाद देह प्रकट होती है। उसके बाद शिशुपन, बालपन, कौमार्य, जवानी, परिपक्वता, अधेड़पन, बुढ़ापा तथा जरजरता आती है और इन सब में उसके रूप बदलते चले जाते हैं। अतएव यह प्रश्न नहीं बनता कि कि कौन कहां से आता है, कौन कहां से नहीं आता है। यह किसका है और किसका नहीं है। किससे उत्पन्न हुआ है और किससे नहीं उत्पन्न हुआ है। मनुष्य को अपने अंगों से भी यहां क्या संबंध है?

"जैसे आप स्वयं आत्मा द्वारा आत्मा को देखते हैं, वैसे अपने द्वारा दूसरों में भी आत्मा को क्यों नहीं देखते हैं?" यदि आप अपने और दूसरों में समभाव रखते हैं, तो मुझसे बारंबार क्यों पूछते हैं कि आप कौन हैं, किसकी हैं? 'यह मुझे मिल जाय और यह दूर रहे यह द्वंद्वात्मक चिंता है। यदि इससे आप मुक्त हैं, तो आप कौन हैं, किसकी हैं, कहां से आयी हैं? इस प्रश्न से क्या प्रयोजन है? शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, विजय, संधि आदि राजोचित व्यवहार से जीवन्मुक्त का क्या संबंध है? प्रिय–अप्रिय तथा दुर्बल–सबल में जिसकी समदृष्टि नहीं है, उसमें जीवन्मुक्त का क्या लक्षण है? राजन! आप योगयुक्त न होने पर भी

. **आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं यथा त्वमनुपश्यसि।**
एवमेवात्मनाऽऽत्मानमन्यस्मिन् किं न पश्यसि ,

जीवन्मुक्त होने का अभिमान गांठे बैठे हैं। जैसे बदपरहेज रोगी को दवा देना बंद कर दिया जाता है, वैसे आपको जीवन्मुक्त होने का अभिमान छोड़ देना चाहिए।

"सबकी आसक्ति छोड़कर अपने द्वारा अपने में ही अपने को देखे।" इसके अलावा जीवन्मुक्त का अन्य क्या लक्षण है? पृथ्वी का एकछत्र सम्राट भी एक नगर के, एक भवन के, एक कमरे में एक खाट पर सोता है। उस खाट के भी आधे पर उसकी पत्नी का अधिकार होने से सम्राट केवल आधे पलंग का ही भागीदार होता है। उपभोग, भोजन, आच्छादन तथा अन्य थोड़ी–थोड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति में तथा दुष्ट–निग्रह तथा शिष्ट–अनुग्रह के विषय में राजा सदैव परतंत्र होता है। राजा छोटी बातों में भी स्वतंत्र नहीं रहता है। वह स्वतंत्र घूम–फिर नहीं सकता। तो भी वह नाना पदार्थों में आसक्त रहता है। संधि तथा विग्रह में राजा कहां स्वतंत्र है? मंत्रियों की सभा में भी वह परतंत्र रहता है।

राजा किसी को कुछ करने की आज्ञा देता है, तब लगता है कि वह स्वतंत्र है, परंतु ऐसे अनेक अवसर होते हैं कि मंत्रियों के दबाव से उसे अपनी इच्छा के विपरीत, विवश होकर आज्ञा देना पड़ता है। वह सोना चाहता है, परंतु कार्यार्थी मनुष्यों द्वारा घिरा रहकर सोने नहीं पाता। शय्या पर सोये हुए राजा को लोगों के आग्रह से शय्या छोड़कर काम में लगना पड़ता है। "महाराज! स्नान कीजिए, तेल लगाइए, पानी पीजिए, भोजन कीजिए, अग्निहोत्र कीजिए, अपनी कहिए और दूसरे की सुनिए" इत्यादि बातें कह–कहकर दूसरे लोग राजा को वैसा करने के लिए विवश करते हैं।

धन मांगने वाले राजा को तंग करते हैं। किंतु जो धन पाने के अधिकारी हैं, राजा उनको देने का भी साहस नहीं करता। राजा अपने धन को पूरा सुरक्षित रखना चाहता है। यदि राजा सबको धन बांट दे तो खजाना ही खाली हो जायगा। यदि किसी को कुछ न दे, तो सबके साथ वैर बढ़ जायगा। उसके सामने क्षण–क्षण ऐसी समस्या आती है कि वह राजकाज से ऊब जाता है। विद्वानों, धनियों तथा शूर–वीरों को जब राजा एक जगह इकट्ठा देखता है, तब उसके मन में उनके लिए संशय हो जाता है। जहां भय का कोई हेतु नहीं है, वहां राजा को भय सवार होता है। अपने पास रहने वाले, कार्य करने तथा सेवा करने वालों से भी राजा भयभीत रहता है। राजा के शंकाशील रहने पर शूरवीर, विद्वान और धनपति भी राजा के साथ दुर्भाव रखने लगते हैं। राजन! आप स्वयं भी समझ लें कि राजा लोग किस तरह हर क्षण भयभीत रहते हैं। सब आदमी

अपने-अपने घर में राजा हैं। सभी गृहस्वामी आवश्यकता पड़ने पर अपने लोगों को अनुग्रहीत तथा निग्रहीत करते हैं, शासन करते हैं।

स्त्री, पुत्र, शरीर, कोष, मित्र और संग्रह जैसे राजा के पास रहते हैं, वैसे अपने-अपने ढंग से सबके पास रहते हैं। इसलिए वे भी राजा के समान ही हैं। 'हाय, देश नष्ट हो गया, नगर जल गया और बड़ा हाथी मर गया।' ये बातें सामान्य हैं। ऐसी घटनाएं सर्वत्र होती ही रहती हैं, परंतु राजा अपने अज्ञान के कारण केवल अपनी ही हानि समझकर जलता रहता है। इच्छा, द्वेष और भय-जनित मानसिक पीड़ा में राजा हर समय पीड़ित रहता है। सिर-पीड़ा और शरीर-रोग उसे घेरे रहते हैं और वह उनमें पड़ा बेचैन रहता है। राजा नाना द्वंद्वों से आहत और भय से घिरा रातें गिनता और शत्रुओं से भरे हुए राज्य का सेवन करता है। जिसमें सुख थोड़ा, किंतु दुख भरा है, जो पूर्णतः सारहीन है, जो क्षणस्थायी है, फेन तथा जल बुदबुदे के समान क्षणभंगुर है, ऐसे राज्य को कौन विवेकी ग्रहण करेगा? यदि इसे ग्रहण कर ले, तो वह कैसे शांति पा सकता है? राजन! आप नगर, राष्ट्र, सेना, कोष तथा मंत्रियों को मानते हैं 'ये मेरे हैं।' परंतु यह आपका भ्रम है। मैं आपसे पूछती हूं कि ये किसके हैं और किसके नहीं हैं?

राजन! मंत्री, मित्र, नगर, राष्ट्र, दंड, कोष और राजा, ये राज्य के सात अंग हैं। जैसे मेरे हाथ में त्रिदंड है, वैसे आपके हाथ में राज्य है। इनमें कौन किस कारण से श्रेष्ठ है? राजा प्रजा से उसकी आमदनी का दसवां भागकर रूप में लेकर संतुष्ट हो जाता है। साधारण राजा दसवें भाग से कम कर लेकर अपना काम चलाता है। प्रजा न हो तो राजा नहीं हो सकता, राजा न हो तो राज्य नहीं टिक सकता, राज्य न हो तो धर्म नहीं रह सकता और धर्म न हो तो परम पद नहीं मिल सकता। जो राजा को दुख देने वाले हैं ऐसे सैकड़ों-हजारों कर्म बताये जा सकते हैं। मुझे अपने शरीर में ही आसक्ति नहीं है, फिर दूसरे के शरीर में कैसे हो सकती है? योगपरायण रहने वाली मुझ संन्यासी को आपको ऐसे वचन नहीं कहने चाहिए जैसे आपने कहे हैं। जब आपने पंचशिखाचार्य से मोक्षशास्त्र का अध्ययन कर आत्मस्वरूप का निश्चय कर लिया है, और सारे बंधनों को काटकर मुक्त हो गये हैं, तब आपको राजगद्दी में आसक्ति कैसे हो गयी है?

मैं समझती हूं कि आपने सारा ज्ञान मिथ्या कर दिया है। आपने मोक्षशास्त्र के नाम पर कुछ और ही सुन लिया है। आप 'विदेहराज' तथा 'मिथिलाधिपति' आदि लौकिक महिमा में ही बंधे हैं, तो साधारण मनुष्यों की तरह ही मोह में डूबे हैं।

यदि आप सर्वथा मुक्त हैं, तो मैंने जो अपनी बुद्धि के द्वारा आपको प्रभावित किया है, तो मैंने आपकी क्या हानि की है? आपने विद्वत समाज में जिस तरह अंड–बंड कहा है वह विचारणीय है। विचारकर ही बात करना चाहिए। यदि आप मुझसे बात करने से गृहस्थ–धर्म से गिर गये हैं, तो आप दुर्लभ मोक्ष भी नहीं पा सके; अतएव केवल मोक्ष की बतकही करते हुए गार्हस्थ्य और मोक्ष दोनों के बीच में आप लटके हैं। दो जीवन्मुक्तों का सत्संग होने से वर्णसंकरता नहीं उत्पन्न होती है। मैं ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र वर्ण की नहीं हूं। मैं आपके समान क्षत्रिय हूं। मैं अखंड ब्रह्मचारिणी हूं। मैं इस नगर के किसी सूने घर में आज की रात रहकर कल प्रातः अन्यत्र चली जाऊंगी। आपने मेरा बड़ा सम्मान किया है, अपनी वाणी रूपी अतिथ्य से मेरा बड़ा सत्कार किया है आपको धन्यवाद है (अध्याय –)।

मीमांसा

राजा जनक और संन्यासिनी सुलभा दोनों के प्रवचन महत्त्वपूर्ण हैं; परंतु जनक बहक गये हैं, सुलभा का वक्तव्य ठोस है। इसीलिए महाभारतकार ने लिखा–राजा जनक ने इन दुखप्रद, अयोग्य और असंगत वचनों से सुलभा का बड़ा तिरस्कार किया, परंतु वह इससे तनिक भी कंपित नहीं हुई। यथा–

इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तैरसमंजसैः।
प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत ,

वेद और संन्यास में स्त्री का अधिकार नहीं है, इस मत को सुलभा का उदाहरण निरस्त करता है।

. वेदव्यास द्वारा अपने पुत्र को धर्मपूर्ण वैराग्य का उपदेश

वेदव्यास ने कहा–बेटा शुकदेव! तुम सदैव धर्म का आचरण करो और इसके लिए अनुकूल–प्रतिकूल स्थितियों में सहनशील होकर निर्द्वंद्व रहो। सत्य, सरलता, अक्रोध, परदोष–दर्शन का अभाव, इंद्रिय–संयम, तप, अहिंसा और दया का पालन करो। सत्य, सरलता और धर्मानुराग तथा अतिथि–सत्कार पर सदैव ध्यान रखो। शरीर जल के फेन की तरह क्षणभंगुर है। जीव इसमें थोड़े दिन का निवासी है। प्रिय लोगों का सहवास नित्य नहीं है। काम, क्रोधादि शत्रु

तुम्हें सदैव सताने के लिए तैयार हैं। आयु के दिन निरंतर घट रहे हैं, जीवन समाप्त हो रहा है। तुम कल्याण की तरफ क्यों नहीं दौड़ते हो? मूढ़ मनुष्य केवल देह और भोग देखता है। उसे परलोक का ख्याल नहीं है। कुबुद्धि लोग कुमार्गगामी होते हैं। उनके कारण उनके अनुगामी भी कष्ट में पड़ते हैं। रेशम के कीड़े की तरह अपने आपको वासनाओं में मत लपेटो।

सारा संसार मृत्यु के चांटे खाते हुए वृद्धता से पीड़ित होता है। रातें मानव की आयु को क्षीण करती हैं। मनुष्य के खड़े, बैठे, लेटे, सोये सभी समय में मृत्यु उसके पीछे लगी है। तुम अकस्मात मृत्यु के ग्रास बन जाने वाले हो, तब असावधान क्यों हो? मनुष्य भोग-वस्तुओं के संचय में लगा रहता है। वह तृप्त भी नहीं होता है और मृत्यु बाघिनि उसे उठा ले जाती है। संसार-अंधकार में धर्म ही दीपक है। आयु रूपी घोड़ा बड़ी तीव्रता से दौड़ा जा रहा है। उसका स्वभाव अव्यक्त है। स्वेच्छाचारी लोग दूसरों की निंदा में लगे रहते हैं। तुम आत्मद्रष्टा बनो। धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इंद्रियनिग्रह, सत्य, अक्रोध आदि धर्म का आचरण करना चाहिए। ब्रह्मलोक आदि की बड़ी-बड़ी बातें बनाना छोड़कर आत्मा पर ध्यान देना चाहिए जो परम पद है। मृत्यु की परिचारिका वृद्धावस्था है। वह आकर सब कुछ समाप्त कर देती है। आलस्य में बैठे न रहो, आगे बढ़ो। मृत्यु निकट है। मृत्यु निर्दय है। वह किसी के रोकने से नहीं रुकती। वह जब आती है, तब सब कुछ समाप्त कर देती है। पहले जन्म का दृश्य आज कहां है? मृत्यु की प्रचंड हवा चलेगी तब तुम्हें दिशाएं घूमती हुई लगेंगी। तुम ऐसा उपाय करो कि मृत्यु का भय मिट जाय। मृत्यु अचानक आती है। उस समय प्राणी को अकेला चलना होता है। कोई उसका साथ नहीं दे सकता। जब एक दिन शरीर-संसार छोड़ना है, तब यहां क्यों मोह बढ़ाया जाय! आत्मलीनता का काम आज ही कर लेना चाहिए। हजारों माता-पिता, स्त्री-पुत्र मिल चुके हैं। हम उनमें किसके हैं और वे हमारे कौन हैं? मैं अकेला हूं। न मैं किसी का हूं और न कोई मेरा है। उनका तुम कुछ नहीं कर सकते और वे तुम्हारा कुछ नहीं कर सकते। वे अपने कर्मों के साथ चले गये और तुम भी चले जाओगे। मनुष्य स्वजनों के लिए पाप करता है और उसका फल उसे अकेला ही भोगना पड़ता है। काल रसोइया है। वह सब प्राणियों को पका रहा है। वह मास और ऋतु की करछुली से सब प्राणियों को उलट-पलट कर भून रहा है। उसमें रात-दिन इंधन हैं और सूर्य आग है। वह धन व्यर्थ है जिसका न स्वयं उपभोग कर सके और न दूसरे को दे सके। वह बल व्यर्थ है जिससे अन्य की सेवा न कर सके। वह शास्त्र-अध्ययन व्यर्थ है जिसके द्वारा जीवन न सुधरे

और उस मनुष्य का क्या महत्त्व है जिसने अपने मन–इंद्रियों को वश में नहीं किया।

पिता वेदव्यास के उपदेश पाकर शुकदेव अपने पिता को छोड़कर गुरु के पास चले गये जिससे मोक्षतत्त्व का उपदेश पा सकें– *शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदैशिकम्* (अध्याय , श्लोक)।

तीन सौ बाइस ( )वें अध्याय में कर्म–फल भोग की बात बतायी गयी है। पापी दुख पर दुख पाता है और पुण्यात्मा सुख पाता है। जीव के अपने कर्म उसके साथ लगे रहते हैं। जैसे किसी की प्रेरणा के बिना वृक्षों में अपने आप फूल–फल लग जाते हैं, वैसे कर्म–फल जीवन में अपने आप आ जाते हैं। अंत में बताया गया "दूसरों को उलाहना देने तथा लोगों की बुराई की चर्चा करने से अपना कोई लाभ नहीं होगा, अपितु जो सुंदर, अनुकूल और अपना हितकारी कर्म है, वह करना चाहिए।" यथा–

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ,

. शुकदेव का जन्म और आत्मज्ञान में दृढ़ता

वेदव्यास जी ने पुत्र की कामना से महादेव जी की उपासना की। महादेव ने पुत्र–प्राप्ति के लिए वर दिया। एक दिन वेदव्यास अग्नि उत्पन्न करने के लिए दो अरणीकाष्ठ रगड़ रहे थे। इतने में शुकी–स्त्री आ गयी। उसे देखकर वेदव्यास का मन काम–मोहित हो गया और उनका वीर्य अरणीकाष्ठ पर ही गिर पड़ा और उससे शुकदेव का जन्म हो गया। शुकदेव बड़े हुए। उन्होंने बृहस्पति को अपना गुरु स्वीकारा। उनसे उन्होंने वेद–वेदांग पढ़ा। वेदव्यास की प्रेरणा से शुकदेव ने सांख्य और योग का अध्ययन किया। इसके बाद पिता वेदव्यास की आज्ञा के अनुसार मिथिला–नरेश जनक के पास गये।

शुकदेव जनक के पास पहुंचे। जनक ने शुकदेव का आदर किया। शुकदेव ने कल्याण की बात पूछी। जनक ने ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम में होते हुए संन्यासाश्रम का क्रम बताया। शुकदेव ने कहा–यदि किसी को ब्रह्मचर्याश्रम में ही सनातन ज्ञान–विज्ञान प्रकट हो जाय और हृदय के राग–द्वेष दूर हो जायं, तो क्या उसे शेष तीन आश्रमों की आवश्यकता है?

जनक ने कहा–ब्रह्मचर्याश्रम में ही पूर्ण बोध और रहनी प्राप्त हो जाने पर अन्य तीन आश्रमों की यात्रा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। बोधवान

को चाहिए कि राजस-तामस भाव का त्यागकर सतोगुण द्वारा *"पश्येदात्मानमात्मना"*–आत्मा द्वारा आत्मा को देखे–आत्मसाक्षात्कार करे। जो सबको आत्मा के समान मानकर सबसे कोमलता का बरताव करता है और कहीं आसक्त नहीं होता है तथा देह-घोंसले को मन से छोड़कर आत्मभाव के आकाश में विचरता है, वह सदैव मुक्त ही है।

"अपने भीतर ही आत्मज्योति है, बाहर नहीं। आत्मज्योति सभी प्राणियों के भीतर समान रूप से स्थित है। चित्त को पूर्ण शांत करके कोई भी उसको स्वयं देख सकता है–आत्मसाक्षात्कार कर सकता है। जिससे कोई भय नहीं पाता और जो किसी से भय नहीं करता, न किसी वस्तु की इच्छा करता है और न किसी से द्वेष करता है, वह ब्रह्मस्वरूप ही है।" जब मनुष्य सभी प्राणियों के प्रति द्वेष-रहित हो जाता है, तब वह ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। जो मोह, काम तथा ईर्ष्या का त्यागकर आत्मलीन है, वह ब्रह्म है। जब साधक सारे दृश्यों में समभाव रहकर निर्द्वन्द्व मन से रहता है, तब वह ब्रह्मत्व को प्राप्त है। जो साधक निंदा-स्तुति, सोना-लोहा, सुख-दुख, सर्दी-गरमी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरण में समान भाव वाला है, वह साक्षात ब्रह्म ही है। मन-इंद्रिय-संयमी साधक आत्मा का साक्षात्कार करता है। शुकदेव! आप ज्ञानी हैं। आप संयत तथा स्थिर बुद्धि हैं। बस, विशुद्ध निश्चय चाहिए, फिर आत्मसाक्षात्कार हो जायगा।

"शुद्धात्मा शुकदेव जी जनक का उपदेश पाकर एक दृढ़ निश्चय पर पहुंच गये और आत्मा द्वारा आत्मा में स्थित होकर स्वयं आत्मा का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये।" वे आनंदमय हो बड़ी शांति का अनुभव करते हुए अपने पिता वेदव्यास के पास चले गये (अध्याय -)।

मीमांसा

वेदव्यास ने कहीं किसी स्त्री से विधिवत विवाह किया हो, ऐसा कहीं पता नहीं चलता; परंतु उन्होंने माता मत्स्यगंधा की आज्ञा से विचित्रवीर्य की

. **ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम्।**
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा
न विभेति परो यस्मान्न विभेति पराच्च यः।
यश्च नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा अध्याय , श्लोक -

. **एतच्छ्रुत्वा तु वचनं कृतात्मा कृतनिश्चयः।**
आत्मनाऽऽमानमास्थाय दृष्ट्वा चात्मानमात्मना ,

पत्नी अंबिका और अंबालिका से धृतराष्ट्र तथा पांडु को पैदा किया और एक दासी से विदुर को पैदा किया। इसी प्रकार शुक–पक्षी का गणचिह्न रखने वाली जंगली जाति की स्त्री शुकी को उन्होंने गर्भवती कर शुकदेव को पैदा किया। अरणीकाष्ठ रगड़ रहे थे, उसी समय शुकी को देखकर वे कामातुर हो गये और अपने वीर्य को रोक नहीं पाये और वह अरणी पर गिर पड़ा और उससे शुकदेव पैदा हो गये; यह असंभव कथन पंडितों को करने में संकोच नहीं है। पंडित ने वेदव्यास को इतना शिथिल बना दिया कि शुकी को देखकर वे अपना वीर्य ही नहीं सम्हाल पाये। खैर, कोई बात नहीं। उनका वीर्य स्खलित हो गया; तो क्या उसके काष्ठ पर गिरने से वहां बच्चा पैदा हो सकता है? क्या यही प्रकृति का नियम है?

वस्तुतः वेदव्यास ने शुकी नामक जंगली स्त्री को गर्भवती किया और समय पूरा होने पर शुकदेव पैदा हुए। हर मनुष्य स्त्री–पुरुष के संयोग से ही पैदा होता है। कौन किससे पैदा हुआ इसका महत्त्व नहीं है। पैदा हुआ बच्चा आगे चलकर अपने ज्ञान–आचरण से मूल्यांकित होता है। शुकदेव महान हैं।

मूल कथा में आया है कि वेदव्यास ने शुकदेव से कहा है कि अपनी सिद्धि के चक्कर में आकाश मार्ग से उड़कर मिथिला न जाना, अपितु पैदल चलकर जाना। अतएव शुकदेव कैलाश पर्वत से पैदल चलकर मिथिला पहुंचे। परंतु लौटते समय वे आकाश मार्ग से कैलाश पर पहुंचे। पहले के लोगों में भी पक्षी को उड़ते देखकर उड़ने की साध थी। इसीलिए ऋषि, मुनि तथा बौद्ध भिक्षु एवं बुद्ध भी आकाश मार्ग से लेखकों द्वारा उड़ाये गये हैं। परंतु, वे उड़ाये ही गये हैं, उड़े नहीं हैं, क्योंकि मनुष्य उड़ नहीं सकता।

मूल कथा में है कि घृताची अप्सरा शुकी रूप में आयी। यह शुकी के जंगली रूप को सुधारने के लिए पंडित की ऊटपटांग योजना है। साहब! शुकदेव की माता साधारण जंगली स्त्री शुकी नहीं थी, अपितु शुकी रूप में घृताची स्वर्गीय अप्सरा थी। स्वर्ग झूठ है और अप्सरा झूठ है। जंगली शुकी मानव है और मानव सत्य और सर्वोच्च है– *नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।*

. वेदव्यास का शिष्यों को उपदेश तथा नारद का शुकदेव को उपदेश और शुकदेव का निर्वाण

शुकदेव हिमालय शिखर पर वेदव्यास के पास पहुंचे और जनक से जो वार्तालाप हुआ था, वह सब कह सुनाया। वेदव्यास शुकदेव सहित अपने सब

शिष्यों को वेद पढ़ाते रहे। हिमालय क्षेत्र में कार्तिकेय ने अपनी शक्ति-शिला गाड़ दी थी और उन्होंने कहा था कि मुझसे कोई अधिक बलवान बनता हो तो इसे वह उखाड़ दे अथवा इसको हिला दे। विष्णु ने अपने बायें हाथ से उसको हिला दिया।

वेदव्यास के वेदपाठी शिष्यों ने उनसे एक वर मांगा कि हम सुमंतु, जैमिनि, पैल और वैशंपायन इन मुख्य चार शिष्य और पांचवें आपके पुत्र शुकदेव, इन पांचों के अतिरिक्त आपका कोई छठां शिष्य प्रसिद्ध न हो।

वेदव्यास ने धर्मानुकूल कल्याणकारी वचन कहा–जो ब्राह्मी स्थिति चाहे वह पढ़ने की इच्छा से आये हुए ब्रह्म जिज्ञासुओं को वेद पढ़ाये। तुम लोग बहुसंख्यक हो जाओ और वेदों का व्यापक प्रचार करो। जिसका मन वश में न हो, जो ब्रह्मचर्य से न रहता हो और शिष्य भाव एवं विनम्रता से पढ़ने न आया हो, उसे वेद नहीं पढ़ाना चाहिए। ये शिष्य के गुण हैं। इनके द्वारा परखकर किसी को शिष्य बनाना चाहिए। जिसके सदाचार की परख न की गयी हो, उसे विद्यादान नहीं करना चाहिए। जैसे आग से तपाने, काटने तथा कसौटी से कसने पर सोने की परख होती है, वैसे मनुष्य के गुणों से उसकी परख होती है। तुम लोग अपने शिष्यों को किसी अनुचित एवं भयदायक कार्य में नहीं लगाना। तुम्हारे पढ़ाने पर भी भिन्न-भिन्न शिष्यों को उनकी योग्यता तथा परिश्रम के अनुसार उनको विद्या प्राप्त होगी। सब लोग दुखों से पार होकर कल्याण की प्राप्ति करें। अधिक संयत लोगों को आगे रखकर सबको पढ़ाना चाहिए। देवताओं की स्तुति के लिए वेदों का सृजन हुआ है। असंयत प्रश्न करने वाले तथा असंयत उत्तर देने वाले परस्पर कटु हो जाते हैं। यह मैंने स्वाध्याय की विधि बतायी है। इसका सदैव स्मरण रखना। यह शिष्यों का हितकारक है (अध्याय)।

गुरु वेदव्यास के हितकारी वचन सुनकर सब शिष्य प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा–आपने हमारे हित के लिए जो बातें कही हैं, वे हमारे मन में जम गयी हैं। हम इनका पालन करेंगे। गुरुवर! हम पर्वत से उतरकर जनता में जाना चाहते हैं। वेदों का अनेक विभाग करके उनका प्रचार करना हमारा उद्देश्य है। प्रभो! आपको यह ठीक लगे तो हमें जाने की आज्ञा दें।

वेदव्यास ने कहा–यदि तुम्हें यह काम अच्छा लगता है, तो इच्छानुसार जाकर यह काम करो, प्रमाद न करना, क्योंकि वेदों में बहुत से प्रतिपादन एवं कथन छलपूर्ण हैं– *'ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम्* (,)।'

सत्यवादी गुरु वेदव्यास के उपदेश पाकर सब शिष्य उनको प्रणाम एवं प्रदक्षिणा करके चले गये। इसके बाद वेदव्यास के पास केवल उनके पुत्र शुकदेव ही रह गये। वेदव्यास ध्यानमग्न होकर बैठ गये। इसके बाद नारद जी आये और उन्होंने मधुर स्वर में कहा–ब्रह्मर्षि! आज वेदध्वनि नहीं हो रही है। सारा आश्रम उदास दिखता है।

वेदव्यास ने कहा–प्रिय शिष्यों से बिछुड़ जाने से मेरा मन बहुत प्रसन्न नहीं है। नारद ने कहा–वेद पढ़कर उसका पुनः अध्ययन न करना वेदाध्ययन का दूषण है, व्रत का पालन न करना साधक का दूषण है, वाहीक देश के लोग पृथ्वी के दूषण हैं और नये–नये खेल–तमाशे देखने का शौक स्त्री का दूषण है। आप अपने पुत्र के साथ वेदाध्ययन करते रहें (अध्याय)।

नारद ने शुकदेव से कहा–विद्या के समान आंख नहीं है, सत्य के समान तप नहीं है, राग के समान दुख नहीं है और त्याग के समान सुख नहीं है। दुख रूपी मानव–शरीर को पाकर जो विषयों में आसक्त होता है, वह भ्रमित हो जाता है। विषयों का संयोग ही दुखरूप है। वह दुखों से छुटकारा कैसे दिला सकता है? विषयासक्ति चंचलता का कारण है। विषयों में बंधा मनुष्य लोक–परलोक में भटकता है। काम–क्रोध कल्याण के नाशक हैं। क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान और प्रमाद छोड़कर ही तप, लक्ष्मी, विद्या और अपने आप की सुरक्षा होगी। कठोर तथा क्रूर स्वभाव का त्याग करना सर्वोच्च धर्म है, क्षमा बल है, आत्मबोध उत्कृष्ट ज्ञान है–*आत्मज्ञानं परं ज्ञानम्।* सत्य तो सर्वोच्च है। सत्य बोलना श्रेष्ठ है, परंतु वह हितकर हो। जिससे प्राणियों का अत्यंत लाभ है, वही सत्य है। "जो सभी आरंभों का परित्यागी, निष्काम, अपरिग्रही तथा सब कुछ का त्यागी है, वही विद्वान और पंडित है।" जो अनासक्त, शांत, निर्विकार, एकाग्र तथा देहाभिमान से परे है, वह सब समय मुक्त है। वह किसी को देखने, छूने तथा बातचीत करने की इच्छा नहीं रखता।

मनुष्य को चाहिए कि वह किसी की हिंसा न करे, सबसे मैत्रीभाव रखे और मनुष्य शरीर में रहकर किसी से वैर न करे। अधिक संग्रह, असंतोष, कामना, चंचलता तथा मोह को त्याग दे। जो मोह में नहीं पड़ता वह शोक में नहीं पड़ता। अजित को जीतने की कामना रखने वाले, अर्थात जिसको कोई नहीं दबा सकता उस परम स्वरूपस्थिति को चाहने वाले को चाहिए कि वह मन–

. **सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः।**
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः , ।

इंद्रियों पर विजयी हो। मुनि द्वंद्वग्रस्त मनुष्यों में रहकर निर्द्वंद्व रहता है। आत्मज्ञान से तृप्त व्यक्ति कभी शोक नहीं करता। जंगली बूढ़ा हाथी जैसे जलाशय के दलदल में फंसकर दुख उठाता है, वैसे स्त्री-पुत्रादि के मोह में फंसा आदमी दुख उठाता है। कुटुंब, स्त्री, पुत्र, शरीर और पदार्थ-संग्रह सब तो पराया है। सब नाशवान है। इसमें अपना क्या है? इसके संबंध में बने पाप और पुण्य अपने पल्ले पड़ते हैं जो जीव को संसार-कांतार में भटकाते हैं। जहां का सब कुछ छोड़कर चल देना है, उस अनर्थपूर्ण संसार में क्यों आसक्त हो? जहां ठहरने का स्थान नहीं है, कोई सहारा देने वाला नहीं है, राह-खर्च नहीं, कोई परिचित साथी नहीं, वहां तुम कैसे निभोगे? शरीर छोड़ने के बाद तुम्हारा कोई साथी नहीं रहेगा। कल्याण की प्राप्ति के लिए विद्या, कर्म, पवित्रता तथा ज्ञान का सहारा लिया जाता है। जब कार्य सिद्ध हो जाता है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। धर्म-अधर्म को छोड़ो। सत्य-असत्य को भी छोड़ो और जिसके द्वारा सबको त्यागते हो, उसे भी त्याग दो। संकल्पों के त्याग से धर्म को त्यागो, और लिप्सा के त्याग से अधर्म का त्याग करो। इसके बाद बुद्धि के द्वारा सत्य-असत्य को त्यागकर आत्मतत्त्व के निश्चय द्वारा बुद्धि को भी त्याग दो। इस त्याग के घटाटोप का अर्थ है आत्मलीन दशा की प्राप्ति, जिसमें साधक संकल्पशून्य हो जाता है; और संकल्पशून्य होने पर शुद्ध चेतन के अलावा कुछ नहीं रहता (अध्याय)।

शास्त्रज्ञान शोक को दूरकर शांति लाता है। शोक की हजारों जगहें हैं और भय के सैकड़ों स्थान हैं। परंतु, ये मोह-मूढ़ पर अपना प्रभाव डालते हैं, विवेकी पर नहीं। भूतकाल की बातें मत सोचो। बीती बातों पर शोक करने से मनुष्य अर्थ-धर्म सबसे वंचित होता है। किसी एक पर शोक की बात नहीं आती, अपितु प्राणियों पर यह आती रहती है। जो अपनी संतान की मृत्यु पर भी आंसू नहीं बहाता, वह धीरवान है। ठीक से सोचने पर साफ मालूम होता है कि किसी बात को लेकर आंसू न बहाना चाहिए। दुख दूर करने की अच्छी दवा है ऐसी बातों का सोचना बंद कर देना। निस्संदेह जीवन में सुख की अपेक्षा दुख अधिक है। मोहवश मनुष्य विषयों की तरफ खिंचता है और मृत्यु बुरी लगती है। जो सुख-दुख की चिंता छोड़ देता है वह अविनाशी ब्राह्मी भाव में स्थित हो जाता है। तृष्णा का कहीं अंत नहीं है। संतोष ही परम सुख है (अध्याय)।

तीन सौ एकतीस ( )वें अध्याय में कर्मी जीवों के कर्म-फल बताये गये हैं। धन, संतान, स्वास्थ्य तथा अन्य अनेक भोगों में मनुष्य अपने कर्मों के अधीन विवश होकर फल भोगते हैं। आगे तीन सौ बत्तीस ( )वें अध्याय में

शुकदेव जी की परम गति बतायी गयी है, वह बड़ा भावुकतापूर्वक वर्णन है जैसे शुकदेव का आकाश में उड़ना, अप्सराओं का मिलना, उल्कापात होना, धरती का डोलना आदि। यह केवल काव्य है। जीवन्मुक्त निर्भय, निष्कंप तथा आत्मसंतुष्ट रहता है। जब शरीर छूट जाता है, तब वह निराधार विदेह मुक्त हो जाता है। उसमें चमत्कारी प्रसंग जोड़ना अज्ञान के अलावा कुछ नहीं है।

शुकदेव जी की ऊर्ध्व गति की कल्पना आगे तीन सौ तैंतीस ( )वें अध्याय में भी गयी है, जो केवल काव्य है। वेदव्यास पुत्र-वियोग में दुखी हुए; अतएव महादेव जी ने आकर उन्हें सांत्वना दी। और कहा–"जब तक पृथ्वी पर पर्वत तथा समुद्र की सत्ता रहेगी तब तक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्र की अक्षय कीर्ति स्थिर रहेगी।" यथा–

यावत् स्थास्यन्ति गिरयो यावत् स्थास्यन्ति सागराः।
तावत् तवाक्षया कीर्तिः सपुत्रस्य भविष्यति शांति पर्व,

मीमांसा

कार्तिकेय ने शक्ति गाड़ दी। उसे विष्णु ने हिला दी। इस कथन पर वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि "बदरीनाथ से आठ मील पर जोशीमठ के पांडुकेश्वर मंदिर के आंगन में यह शक्ति गाड़ी हुई है। यह ऊंची है तथा इस पर गुप्त लिपि में एक लंबा लेख भी है। हो न हो मोक्ष-धर्म पर्व के लेखक को उसका पता था और उसका यह वर्णन उसी पर घटित होता है।"

वेदव्यास ने वेद-प्रचार में जाने वाले अपने शिष्यों से कहा–प्रमाद न करना *'ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम्।'* अर्थात वेद में अधिक छल की बातें हैं। वेदों में जो प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर उनकी प्रार्थना करके उनसे लौकिक भोग और स्वर्ग मांगा गया है तथा हवन-तर्पण द्वारा स्वर्ग पाने का प्रलोभन है, यह सब असत्य है। वस्तुतः वैदिक ऋषि निश्छल थे। वे वैसा समझते थे। अग्नि, वायु, सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियों को ऋषिजन देव समझकर उनकी प्रार्थना करते थे और उनके नाम पर हवन करके उनसे लौकिक भोग तथा स्वर्ग चाहते थे। यह सब उनका निष्छल प्रयोग था। चिंतन बढ़ते-बढ़ते लोगों को समझ में आया कि अग्नि, वायु सूर्य आदि जड़-शक्तियां हैं। उनकी प्रार्थना करना व्यर्थ है, उनके नाम पर आहुति देना भी व्यर्थ है और उनसे लोक-

---

. **भारत सावित्री, पृष्ठ ।**

परलोक के सुख मांगना व्यर्थ है। जो लोग ऐसा करते हैं, वे मनुष्य के साथ छल करते हैं।

पीछे के युग में समझ में आ गया कि जड़ प्रकृति न प्रार्थना सुन सकती है और न उसका उत्तर दे सकती है और न भोग तथा स्वर्ग दे सकती है; अतएव जनता से हवन-यज्ञ कराकर उनको यह सब लाभ होने का दिलासा देना छल है। यह भी ध्यान दें कि प्राकृतिक शक्तियों की प्रार्थना तथा हवन-तर्पण को हटा देने के बाद भी वेदों में इतना यथार्थ ज्ञान तथा सत्प्रेरणा का इतना माल है कि उसको परखकर इकट्ठा किया जाय और उनका जीवन में उपयोग किया जाय, तो पूरा कल्याण है। उनमें व्यावहारिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, चारित्रिक तथा आध्यात्मिक इतना ज्ञान है कि वह मनुष्य जीवन के लिए पूर्ण है। परंतु यह तब संभव है जब परखदृष्टि से काम लिया जाय *"सार-सार को गहि रहै, थोथा देय उड़ाय।"* अतएव वैदिक ऋषि छली नहीं, अपितु वे निष्छल हैं क्योंकि प्राकृतिक शक्तियों की प्रार्थना उन्होंने अपने भोलेपन में किया है।

वाहीक देश के लोगों को पृथ्वी का दूषण कहा गया है। इसका पूर्ण परिचय पीछे भीष्म पर्व में कर्ण के प्रसंग में स्पष्ट कर दिया गया है। बलख देश के निवासी पंजाब में आकर अपना राज्य स्थापित किये। इसलिए पंजाब वाल्हीक या वाहीक देश कहा जाने लगा। उनके आचार-विचार अधिक उच्छृंखल थे, इसलिए वाहीक देश के लोगों को पृथ्वी का मल कहा गया।

. पांचरात्र भागवतों एवं वैष्णवों की भावना

अब वैष्णवों की अवतारवादी धारणा की सामग्री आगे आयेगी। युधिष्ठिर ने पूछा–पितामह! गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी आदि में जो सिद्धि पाना चाहे, वह किस देवता की आराधना करे? भीष्म ने कहा–देव की कृपा तथा ज्ञानप्रधान शास्त्र-अध्ययन के बिना केवल तर्क द्वारा इस प्रश्न का उत्तर सैकड़ों वर्षों में भी नहीं दिया जा सकता है। पुराकाल में देवर्षि नारद तथा भगवान नारायण का संवाद हुआ था। उसे मैं बताता हूं। नारायण सर्वेश्वर हैं। सत्युग में उन भगवान वासुदेव के चार अवतार हुए थे–नर, नारायण, हरि और कृष्ण। नारायण और नर, ये दोनों बदरिकाश्रम जाकर तप करने लगे। नारद गंधमादन पर्वत पर गये और घूमते-घूमते नर-नारायण के पास पहुंच गये।

नारद ने कहा–भगवन! आपकी महिमा वेद-वेदांगों में गायी जाती है। आप किसकी पूजा करते हैं? नर-नारायण ने कहा–परमात्मा सबकी आत्मा है,

हम उसी की उपासना करते हैं। "वही हम लोगों की आत्मा है। उसे जानना चाहिए। हम उसी की पूजा करते हैं–*आत्मा हि नः स विज्ञेयस्ततस्तं पूजयावहे* (,)।"

नारद ने कहा–अब मैं आपके आदि स्वरूप का दर्शन करने के लिए श्वेतद्वीप जाना चाहता हूं। नर–नारायण ने उन्हें आज्ञा दे दी। नारद उड़े और तुरंत मेरु पर्वत पर पहुंचकर अदृश्य हो गये। मेरु शिखर पर नारद ने दो घड़ी तक विश्राम किया। इसके बाद वहां से उत्तर–पश्चिम कोण पर देखा तो उन्हें अद्‌भुत दृश्य दिखायी दिया। वह था श्वेतद्वीप। इस द्वीप को मेरु पर्वत से बत्तीस हजार योजन ऊंचा बताया गया है। वहां के रहने वाले इंद्रिय–रहित, निराहार, चेष्टारहित और ज्ञानसंपन्न होते हैं। उनके अंगों से अद्‌भुत सुगंध निकलती है। वहां के लोग श्वेत रंग और पापरहित होते हैं।

उपरिचर राजा नारायण के भक्त थे। नारायण के प्रसाद से उन्होंने भूमंडल का राज्य प्राप्त किया था। राजा उपरिचर के भवन में पांचरात्र शास्त्र के विद्वान सदा उपस्थित रहते थे। राजा उपरिचर देवगुरु बृहस्पति के शिष्य थे। चित्रशिखंडियों के बनाये तंत्रशास्त्र का उन्होंने अध्ययन किया था। एक बार राजा उपरिचर ने अश्वमेध का आयोजन किया। उसमें उनके उपाध्याय बृहस्पति हुए। प्रजापति के तीन पुत्र एकत, द्वित और त्रित नामक महर्षि उस यज्ञ में सदस्य हुए। इसके बाद तेरह सदस्य थे। इस यज्ञ में किसी पशु का वध नहीं किया गया, अपितु जंगल में उत्पन्न फल–मूल आदि पदार्थों का हवन किया गया। उस समय नारायण ने उनको दर्शन दिया, और किसी को नहीं दिया।

यह सब देखकर बृहस्पति क्रोध में भरकर आंसू बहाने लगे और सुवा (हवन करने की करछुली) आकाश में दे मारी और राजा उपरिचर से कहा कि मैंने यह भाग अर्पित किया। भगवान को चाहिए कि प्रत्यक्ष होकर इसको ग्रहण करें, परंतु भगवान ने दर्शन नहीं दिया। लोगों ने बृहस्पति से कहा–मुने! आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोध करना सत्युग का धर्म नहीं है। जिनको यह भाग समर्पित किया गया है, वे कभी क्रोध नहीं करते। हम और आप अथवा कोई भी उनको अपनी इच्छा से नहीं देख सकता। वे जिन पर कृपा करते हैं, उन्हीं को दर्शन देते हैं।

इसके बाद एकत, द्वित और त्रित तथा चित्रशिखंडी ऋषियों ने कहा–हम लोग ब्रह्मा के मानस पुत्र कहलाते हैं। हम लोगों ने मेरु पर्वत के उत्तर क्षीरसागर के पास तपस्या की कि नारायण का दर्शन मिले। वहां आकाशवाणी हुई–क्षीरसागर के उत्तर श्वेतद्वीप है। वहां भगवान नारायण के भजन करने वाले लोग

रहते हैं जो चंद्रमा के समान ज्योतिमान हैं। वे इंद्रिय-रहित, निराहार और निश्चेष्ट होते हैं। उनके शरीर से सुगंध निकलती है। वे भगवान नारायण के अनन्य भक्त होते हैं। वे सहस्त्रों किरणों वाले भगवान नारायण में प्रवेश कर जाते हैं। श्वेतद्वीप-निवासी मेरे अनन्य भक्त हैं। तुम वहीं जाओ। तुम्हें वहीं मेरे स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होगा।

इस आकाशवाणी को सुनकर हम लोग वहां गये। जब हम श्वेतद्वीप में गये, तब हमारा मन भगवान नारायण में ही लग गया। वहां हमारी दृष्टि-शक्ति क्षीण हो गयी। वहां के चमकते हुए लोगों को देखकर हमारी आंखें चौंधिया गयीं। हम लोगों ने वहां तपस्या की, तो हमें उन शुभ लक्षण पुरुषों के दर्शन हुए जो चंद्रमा के समान उज्ज्वल तथा सब प्रकार से उत्तम लक्षणों से युक्त थे। वे प्रतिदिन ईशान कोण 'उत्तर-पूर्व कोण' की तरफ मुख करके हाथ जोड़े हुए ब्रह्म का मानस जप करते थे। उनके मन की एकाग्रता से भगवान प्रसन्न होते थे। वहां के लोगों की चमक सूर्य के समान थी। हम लोगों को लगा कि यह द्वीप प्रकाश का निवास स्थान है। वहां सबका तेज समान था।

उसी समय हमारे सामने हजारों सूर्य के प्रकाश के समान ज्योति प्रकट हुई। हमने उसे देखा। वहां के निवासी बड़ी प्रसन्नता से 'नमोनमः' कहते हुए उस प्रकाश-पुंज की तरफ दौड़ पड़े। वे सब उसकी पूजा करने लगे, किंतु हम लोगों की आंखें चौंधिया जाने से कुछ स्पष्ट देख नहीं पाते थे; परंतु वहां के लोगों के ये वचन हमारे कान में पड़े—"पुंडरीकाक्ष! आपकी जय हो। विश्वभावन! आपको प्रणाम है। सबके पूर्वज हृषीकेश! आपको नमस्कार है।" उन भक्तों ने श्री हरि की बड़ी पूजा की। उन सबकी बातचीत से हमें लगा कि यहां भगवान पधारे हुए हैं, परंतु उन्हीं की माया से मोहित होकर हम उनको देख नहीं पाते थे। जब वहां पूजा समाप्त हो गयी, तब हम चिंतित हो गये। वहां के वे संभ्रात लोग हम लोगों को देखकर भी हमारा सत्कार नहीं किये। वहां जो मुनि थे, वे भी भगवान में लगे मन वाले थे, अतएव उन्होंने भी हम लोगों की ओर नजर नहीं की।

इतने में हमें आकाशवाणी सुनायी दी-"तुम लोगों ने श्वेतद्वीप-निवासी श्वेतकाय इंद्रिय-रहित पुरुषों का दर्शन किया है। इन श्रेष्ठ द्विजों के दर्शन हो जाने से मानो साक्षात भगवान नारायण का ही दर्शन हो जाता है। मुनियो! तुम लोग जैसे आये हो, वैसे ही जल्द लौट जाओ। भक्ति के बिना भगवान का दर्शन नहीं होता। भक्ति करते-करते बहुत समय में जब अनन्य भक्ति हो जाती है, तब ज्योतिपुंज रूप में भगवान का किसी तरह दर्शन हो सकता है। आगे जब त्रेता

युग आयेगा तब देवों का काम बनाने में तुम लोग सहायक होगे।" इसके बाद हम लोग श्वेतद्वीप से लौटकर यहां आ गये। बृहस्पति! हम लोग इतने तप और परिश्रम के बाद भी भगवान के दर्शन नहीं पा सके, तब तुम यों ही उनके दर्शन कैसे पा सकते हो? इसके बाद बृहस्पति का समाधान हो गया और उन्होंने यज्ञ समाप्त कर दिया (अध्याय –)।

यज्ञ था, देवता तथा ऋषि इकट्ठे थे। देवताओं ने कहा–'अज' की बलि देकर यज्ञ करना चाहिए और अज का अर्थ है बकरा। ऋषियों ने कहा–देवताओ! अज का अर्थ है बीज (अन्न), अतएव बीजों से यज्ञ करना चाहिए। जहां कहीं भी यज्ञ में पशुवध हो, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है। यह सत्युग चल रहा है, इसमें धर्म के नाम पर पशुवध कैसे हो सकता है? इस प्रकार ऋषियों तथा देवताओं का विवाद चल ही रहा था कि राजा उपरिचर आ गये। उपरिचर नाम से पता चलता है कि वे ऊपर–ऊपर अर्थात आकाशमार्ग से चलते थे। ऋषियों ने राजा उपरिचर से विवाद का समाधान करने के लिए पूछा कि यज्ञ अन्न से करना चाहिए कि बकरे द्वारा। उन्होंने पूछा कि किस पक्ष का क्या मत है? उत्तर मिला कि देवताओं का मत बकरा है और ऋषियों का मत अन्न है। राजा उपरिचर ने देवताओं के पक्ष का समर्थन कर दिया और कहा–अज का अर्थ है छाग (बकरा)।

राजा के इस निर्णय से ऋषियों ने उन्हें शाप दे दिया कि तुम पृथ्वी के छेद से पाताल में चले जाओ। राजा उपरिचर आकाश से गिरे और पृथ्वी के भीतर घुसकर पाताल चले गये। राजा उपरिचर नारायण के भक्त थे। देवताओं ने नारायण से अपना सोर्स लगाया कि उपरिचर को पाताल से निकालकर उन्हें आकाशगामी बनाया जाय। नारायण प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने वाहन गरुड को आज्ञा दी और वे पाताल जाकर तथा राजा उपरिचर को पकड़कर आकाश में छोड़ दिये। राजा पूर्ववत आकाशगामी तथा राजगद्दीनशीन हो गये। यह भगवान नारायण की कृपा थी (अध्याय)।

आगे तीन सौ अड़तीस ( )वें अध्याय में नारद भगवान नारायण की दो सौ ( ) नामों द्वारा स्तुति करते हैं। वे नाम हैं–नमस्ते देव देवेश, निष्क्रिय, निर्गुण, लोकसाक्षिन, क्षेत्रज्ञ, पुरुषोत्तम, अनन्त आदि।

तीन सौ उन्तालीस ( )वें अध्याय में आता है कि भगवान नारायण ने प्रसन्न होकर नारद को दर्शन दिया। नारायण के रंग चंद्रमा, नक्षत्र तथा अग्नि के समान ज्योतित और कुछ तोते के समान हरा, कुछ स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल, कुछ कज्जल के समान काला और कुछ स्वर्ण के समान सुनहला था।

इतना ही नहीं, नव-पल्लव, वैदूर्यमणि, नील वैदूर्यमणि, इंद्रनीलमणि, मोर के गले के रंग, मोती के हार की तरह रंग वाले अनेक रंग भगवान में दिखते थे। उनके हजारों नेत्र, मुख, मस्तक, हाथ, पैर आदि थे। भगवान नारायण हरि स्वयं अपने नाम का एक मुख से हरि, एक मुख से गायत्री, एक मुख से ॐ तथा अन्य मुखों से चारों वेदों तथा वेदांगों का पाठ कर रहे थे। वे अपने हाथों में यज्ञवेदी, कमंडलु, मणिरत्न, जूते, कुशा, मृगचर्म, दंड तथा प्रज्वलित अग्नि ले रखे थे।

भगवान नारायण ने कहा–देवर्षे नारद! महर्षि एकत, द्वित और त्रित आदि मेरे दर्शन के लिए ही आये थे। परंतु उन्हें मेरा दर्शन न प्राप्त हो सका। वस्तुतः अनन्य भक्ति हुए बिना कोई मेरा दर्शन नहीं कर सकता। धर्म के घर में अवतीर्ण नर-नारायण, हरि और कृष्ण मेरे ही स्वरूप हैं, अतएव तुम उनका भजन किया करो। इसके बाद जो सेवा उपलब्ध हो, वह करो। मैं विश्व रूप अविनाशी परमेश्वर हूं और तुम पर प्रसन्न हूं। तुम जो चाहो मुझसे मांग लो। नारद ने कहा–आपका दर्शन हो गया। बस, मैं सब कुछ पा गया।

इसके बाद भगवान ने पुनः कहा–"नारद! ये इंद्रिय और आहार से रहित चंद्रमा के समान चमकीले मेरे भक्तजन एकाग्रचित्त हो मेरा चिंतन कर सकें और इनकी उपासना में कोई विघ्न न हो सके; अतएव तुम्हें यहां से शीघ्र चले जाना चाहिए।" यहां निवास करने वाले सभी भाग्यवान सिद्ध हो चुके हैं। ये मेरे में ही प्रवेश कर जायंगे। मन-इंद्रियों से अतीत परमात्मा ये वासुदेव (कृष्ण) ही हैं। वासुदेव को छोड़कर कुछ भी नित्य नहीं है। भगवान वासुदेव क्षेत्रज्ञ स्वरूप निर्गुण हैं। वे ही संकर्षण रूप जीवात्मा हैं। संकर्षण से प्रद्युम्न का प्रादुर्भाव हुआ जो मनोमय है। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध प्रकट हुए जो अहंकार और ईश्वर हैं।

इसके बाद भगवान ने अपने मुख से अपनी बड़ी बड़ाई की है जो लंबी चली है। इसके बाद उन्होंने नारद से कहा है कि अब मेरे अवतारों के नाम सुनो–मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामनस, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण और कल्कि। आगे भगवान ने कहा–मैं पहला मत्स्य (मछली) का अवतार लेकर महा समुद्र में डूबते हुए संसार और वेदों का उद्धार करूंगा। दूसरा अवतार कच्छप (कछुआ) का लेकर समुद्र-मंथन के समय पृथ्वी को अपनी पीठ पर धारण करूंगा। तीसरा अवतार वराह (सुअर) का धारण करूंगा और

. **इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ताश्चन्द्रवर्चसः ।**
एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ,

हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी का उद्धार करूंगा। चौथा अवतार नरसिंह (आधा मनुष्य तथा आधा सिंह) का लूंगा और हिरण्यकश्यपु को मारकर धर्म का उद्धार करूंगा। पांचवा अवतार वामन का लूंगा और बलि से छलपूर्वक तीन पग जमीन मांगकर उसका सारा राज्य हड़प लूंगा और इंद्र को दे दूंगा और बलि को पाताल भेज दूंगा। छठां अवतार त्रेता में परशुराम का लूंगा और सेना सहित क्षत्रियों का संहार कर डालूंगा। जब त्रेता और द्वापर का संधिकाल होगा तब मैं सातवां दशरथ के घर रामावतार लूंगा। त्रित नामक मुनि के साथ विश्वासघात करने के कारण एकत और द्वित जो प्रजापति के पुत्र हैं वानर योनि में जन्म लेंगे और मेरे सहायक होंगे और मैं पुलस्त्य–वंशी रावण को मार डालूंगा। द्वापर और कलि के संधिकाल में मैं आठवां कृष्णावतार लूंगा और कंस तथा अनेक आततायी राजाओं को मारूंगा। फिर दानवों को मारकर द्वारका में बसूंगा।

भगवान ने इसके आगे बहुतों को मारने की संख्या बतायी है। उन्होंने नारद से कहा कि मेरे बहुत–से अवतार बीत चुके हैं। वह सब नारद! तुमने पुराणों में पढ़ा–सुना होगा। वे सब अवतार अपना काम करके पुनः अपने मूल स्वरूप में मिल गये हैं। इतनी बात कहकर भगवान अंतर्धान हो गये।

भीष्म कहते हैं–युधिष्ठिर! पांचरात्र आगम शास्त्र है। इसमें वेद–उपनिषद् के ज्ञान हैं और सांख्य–योग का ज्ञान तो कूट–कूटकर भरा है। साक्षात नारायण ने इसका गायन किया है। इस विषय को नारद जी ने जैसा श्वेतद्वीप में देखा–सुना था, वैसा ही ब्रह्मा जी के भवन में कहा था। असंख्य ब्रह्मा बीत चुके हैं। नारद ने वेदतुल्य पुरातन पांचरात्र शास्त्र उन्हें सुनाया था। पांचरात्र शास्त्र सिद्धों से सूर्य सुने, सूर्य से हजारों मुनि सुने। उनसे देवता सुने।

जो इस अध्याय का पाठ करेगा और इसे सुनेगा उसको भगवान की भक्ति मिलेगी ही, उसकी अन्य सारी कामनाएं भी पूरी हो जायंगी।

आगे तीन सौ चालीस ( )वें अध्याय में यह बात आयी कि भगवान नारायण स्वयं निवृत्तिमार्ग में स्थित हैं, फिर उन्होंने यज्ञादि प्रवृत्ति मार्ग का आदेश क्यों दिया? बताया गया कि निवृत्तिमार्ग का अनुसरण कोई–कोई कर सकता है, अधिक लोग प्रवृत्तिमार्ग में ही चल सकते हैं। सन, सनत्सुजात, सनक, सनंदन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन, ये सात ऋषि निवृत्तिपरायण हैं। ये योग ओर सांख्य के ज्ञाता मोक्षधर्म के प्रवर्तक हैं। प्रवृत्तिमार्ग के ऋषि मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ हैं। ये सब यज्ञ परायण हैं। यह सत्युग चल रहा है। इसमें यज्ञ के नाम पर पशु–हिंसा नहीं की जाती है। अहिंसा ही परम धर्म है। प्रश्न होता है कि कलियुग में जब धर्म के तीन चौथाई

अंग लुप्त हो जायंगे, तब क्या करना होगा? उत्तर दिया गया कि वेद, यज्ञ, तप, सत्य, इंद्रिय-संयम और अहिंसा धर्म जहां हो, वहां रहने से पाप छू नहीं पायेगा। इसके बाद नारायण हरि का नमस्कार किया गया है।

तीन सौ एकतालीस ( )वें अध्याय में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा है कि आपके जो अनेक नाम कहे गये हैं उनकी व्याख्या सुनना चाहता हूं। इसके बाद श्रीकृष्ण ने अपने अनेक नामों की व्याख्या की है।

तीन सौ बयालीस ( )वें अध्याय में सृष्टि-उत्पत्ति की कल्पना का वर्णन है, ब्राह्मणों की महिमा बताने वाली छोटी-छोटी कहानियां हैं। इस अध्याय में अधिक कथन गद्य में है। भगवान के नामों की महिमा है। भगवान ने कहा कि यज्ञ में जब मेरे नाम से समर्पित किया जाता है तब मैं उसका हरण (स्वीकार) करता हूं तथा मेरे शरीर का रंग हरा है, इसलिए मेरा नाम हरि है। इस प्रकार नारायण ने अपने अनेक नामों की स्वयं परिभाषा दी है। नारायण ने महादेव के तेज को भी क्षीण किया है।

तीन सौ तैंतालीस-चौवालीस (-)वें अध्याय में यह कथा पुनः आती है कि नारद श्वेतद्वीप में श्री नारायण के मूल रूप का दर्शन करके तथा बदरिकाश्रम में पहुंचकर उसका वर्णन नर-नारायण से करते हैं।

तीन सौ पैंतालीस ( )वें अध्याय में बताया गया कि एक समय पृथ्वी समुद्र में डूबी थी। तब गोविंद भगवान ने वराह रूप धारणकर उसका उद्धार किया था। जब भगवान वराह ने अपनी दाढ़ों से पकड़कर पृथ्वी को बाहर लाकर छोड़ा, तब अपने दाढ़ों में लगी हुई मिट्टी को निकालकर वे उसका तीन पिंड बनाये और उसे कुश-घास पर रखकर उसका पूजन किये। वराह भगवान ने कहा-मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। मैं ही पिता, पितामह तथा परपितामह हूं। मैं सबका दादा-बाबा हूं। अतएव मेरे ऊपर कोई नहीं है। इस प्रकार कहकर वराह भगवान पिंडदान करके स्वयं का ही पूजन किये और वहीं अंतर्धान हो गये। तब से पिंडदान की प्रथा चली।

तीन सौ छियालीस ( )वें अध्याय में भी नारायण श्री हरि की महिमा बतायी गयी है और यह बताया गया है कि भगवान विष्णु ही सबकी आत्मा हैं। अपनी आत्मा से कौन द्वेष करेगा? जो भगवान विष्णु से द्वेष करता है वह मानो अपने आप से द्वेष करता है।

तीन सौ सैतालीस ( )वें अध्याय में बताया गया है कि ब्रह्मा श्री हरि से पैदा हुए और वे सृष्टि करने चले। उसी समय मधु और कैटभ दो दानवों ने ब्रह्मा जी से वेदों को छीनकर पाताल में प्रवेश किया। ब्रह्मा व्याकुल होकर

भगवान श्री नारायण को पुकारने लगे। भगवान सो रहे थे। वे जग गये और वे अपना मुंह घोड़े का बना लिए, इसीलिए हयग्रीव कहलाये और वे वेदों को लाकर ब्रह्मा जी को दिये। इसके बाद पुनः सो गये। जब मधु और कैटभ ने देखा कि वेदों को कोई उठा ले गया है, तब वे पता लगाते विष्णु भगवान के पास पहुंचे और उन्होंने उन्हें युद्ध के लिए ललकारा। भगवान जगे और उन्होंने मधु और कैटभ को मार डाला।

तीन सौ अड़तालीस ( )वें अध्याय में नारायण की भक्ति की उपदेश–परंपरा का वर्णन है। यह धर्म नारायण–फेन ऋषि–ब्रह्मा–रुद्र–बालखिल्य–सुपर्णा–वायु–विघसाशी ऋषि–महोदधि आदि में चला। सबसे बड़ी बात है श्री नारायण की उपासना।

तीन सौ उन्चास से तीन सौ एक्कावन (–)वें अध्याय तक श्री नारायण की महिमा है। इसके बाद इस विषय का उपसंहार है (अध्याय –)।

मीमांसा

इस प्रसंग में कई बार श्वेतद्वीप तथा वहां रहने वाले श्वेत वर्ण के भक्त मनुष्यों की बड़ी प्रशंसा की गयी है। उसे देखकर नारद नर–नारायण के पास उसका वर्णन करते हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस संदर्भ में यह पहचान की है कि श्वेतद्वीप फारस देश अर्थात आज का ईरान है। वहां के लोग श्वेत रंग के होते हैं। उस समय वहां पारसी–संप्रदाय का बोलबाला था। वे लोग श्वेत वस्त्र पहनकर उपासना करते थे। वे लोग इंद्रिय–संयमी होते थे, इसलिए कवि ने यहां उन्हें निरिंद्रिय, निराहार तथा चेष्टारहित कहा है।

ईसा के चार–पांच सौ वर्ष पूर्व से अवतार लेने वाले नारायण की भक्ति चली और आगे चलकर वह श्रीकृष्ण में केंद्रित हो गयी। पांचरात्र के आधार पर उपासना करने वाले वैष्णव भक्त ईरान के पारसियों की भक्ति से बहुत प्रभावित थे। इसमें उन्होंने नारायण के मुख से कहलवा डाला कि यहां के चंद्रवदन लोग निष्पाप हैं। ऋषियो! तुम इनके दर्शन कर लिए तो मानो परमात्मा के दर्शन कर लिए। अब तुम लोग शीघ्र यहां से चले जाओ। इन्हें बाधा न पहुंचाओ।

वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं–"देव हरिमेधस का बार–बार उल्लेख आया है। यह अहुरमज्द का संस्कृत रूप था। सासानी भाषा में उसे हर्मुज कहा

जाता था। इसी का संस्कृत में हरि हुआ। यह उल्लेखनीय है कि नारायण के अर्थ में हरि शब्द का प्रयोग गुप्त युग के पूर्व के किसी ग्रंथ में नहीं पाया जाता। वहां हरि शब्द तो है, किंतु इंद्र या घोड़े के अर्थ में आया है, विष्णु के अर्थ में नहीं, और जो एक-दो स्थल में विष्णुवाची है भी, वह संदिग्ध है। इतने बड़े महाभाष्य या वैदिक साहित्य में भी हरि शब्द विष्णु के लिए नहीं आता है।"

ईरानी एवं पारसी परंपरा का यज्ञ अहिंसक था, वही वैष्णवों का था। इसलिए यज्ञ में 'अज' का अर्थ बकरा न मानकर अन्न माना गया है और कहा गया कि यज्ञ अहिंसक होना चाहिए। यह यज्ञ का सुधार है।

वैष्णवों का ईश्वर भावुक होकर स्वयं कहता है कि मैं दस अवतार लूंगा और अमुक-अमुक को मारूंगा। भगवान लाखों वर्ष पूर्व से जानता है कि अमुक युग में मैं अमुक अवतार लेकर अमुक को मारूंगा, परंतु वह इतने दिनों में इतनी शक्ति नहीं इकट्ठी कर पाता है कि उनको सुधार दे, जिससे मारना न पड़े। अवतारवाद-पैगंबरवाद आदि बाल-सुलभ काल्पनिक भावना है और अपने मत को सब पर थोपने की हठवादिता है। पौराणिक कथाओं में चमत्कार, अलौकिकता तथा अतिशयोक्तियां तो आती ही हैं जो काल्पनिक होती हैं।

ईरान की पारसी-परंपरा की उपासना तथा उपासकों से पांचरात्र वैष्णव बहुत प्रभावित थे। इससे उन्होंने यहां तक कह डाला कि असली नारायण का दर्शन श्वेतद्वीप (ईरान) में ही होता है। यह वैष्णवों की उदारता थी।

वस्तुतः सांख्य-चिंतन ही प्रौढ़ ज्ञान है, जिसमें निज चेतन स्वरूप आत्मा में ही स्थित होने की बात बतायी गयी है। आत्म-भिन्न तो सब मनःकल्पना का ही विस्तार है।

. उंछवृत्ति और शिलवृत्ति का महत्त्व

इस शांति पर्व के अंतिम तीन सौ बावन से तीन सौ पैसठ (-)वें अध्याय तक एक सौ उन्नासी ( ) श्लोकों में एक ही कथा उंछ तथा शिलवृत्ति की है जो इस प्रकार है-

युधिष्ठिर ने पूछा-पितामह! मैंने आपसे मोक्षधर्म संबंधी उपदेश सुना। अब आप आश्रम-धर्म की बात बतावें।

भीष्म ने कहा-सभी आश्रमों में धर्म-पालन का विधान है। स्वर्ग और मोक्ष का रास्ता हर आश्रम-धर्म में बताया गया है। धर्म की कोई भी

. **भारत सावित्री, पृष्ठ ।**

क्रिया निष्फल नहीं होती। जो जिस साधन में लगा है, वह उसी को श्रेष्ठ समझता है। मैं तुम्हें एक पुरानी कथा सुनाता हूं, जिसे पहले नारद ने इंद्र को सुनाया था। गंगा नदी के दक्षिण तट पर महापद्म नामक नगर था। उसमें एक ब्राह्मण रहता था। वह वेदज्ञ तथा सदाचारी था और लंबा परिवार वाला था। उसका मन विषयों से विरक्त रहने लगा। वह सोचने लगा–"क्या करने से मेरा कल्याण होगा, मेरा क्या कर्तव्य है और मेरा परम आधार कौन हो सकता है?" निरंतर सोचते-विचारते हुए भी वह किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाता था।

एक दिन उसके यहां दूसरा ब्राह्मण जो धर्मपरायण था, अतिथि रूप में आ गया। गृहपति ब्राह्मण ने आगंतुक से पूछा–मैं गृहस्थी का कर्तव्य अपने पुत्रों को देकर श्रेष्ठ धर्म का पालन करना चाहता हूं। ब्रह्मन! बताइए! मेरा क्या कर्तव्य है ? मैं कभी सोचता हूं कि अकेला रहूं, और अपने आत्मा का आश्रय लेकर उसी में स्थित हो जाऊं, परंतु तुच्छ विषयों में बंधा होने से यह उत्तम इच्छा नष्ट हो जाती है। आज तक आयु पुत्र-पौत्र के मोह में ही बीत गयी। अब ऐसे धर्म का आचरण करना चाहता हूं जो आगे का पाथेय बन सके। मैं संसार से पार जाना चाहता हूं। मैं सोचता हूं कि मुझे पार लगाने वाली धर्म की नाव कहां से मिलेगी? मैं देखता हूं कि अच्छे लोग भी विषयों में फंसकर सांसारिक दुखों में मग्न हैं। मौत सिर पर जानकर मुझे अब भोगों में फंसने का मन नहीं होता। जब देखता हूं कि संन्यासी कुछ पाने के लिए दूसरे के सामने हाथ फैलाते हैं, तब मेरा मन संन्यास की तरफ नहीं जाता है। अतएव अतिथि देव! मुझे धर्म का सही द्वार बतायें।

अतिथि ने कहा–मैं भी ऐसा ही भटका हूं। मुझे मोक्ष का कोई सही रास्ता नहीं सूझता। कोई यज्ञ की प्रशंसा करता है, कोई गृहस्थ-धर्म की, तो कोई वानप्रस्थ की, कोई राजनीति, कोई आत्मज्ञान, कोई गुरु-सेवा और कोई मौनवृत्ति लेकर रहते हैं। कोई कहता है कि माता-पिता की सेवा से ही स्वर्ग मिल जायगा और कोई कहता है कि सत्य और अहिंसा के पालन से स्वर्ग मिलेगा। कोई मानता है कि शत्रु से युद्ध करते-करते मर जाने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। कोई उंछ और शिलवृत्ति से रहकर मोक्ष मानते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वेदों का स्वाध्याय करते हुए जितेंद्रिय होकर आत्मसंतुष्ट हो जाने में कल्याण है। कितने पुरुष शुद्ध, सरल तथा अच्छे आचार-विचार के हुए, किंतु उन्हें कुटिल मनुष्यों ने मार दिया। फिर भी उनका कल्याण ही हुआ होगा (अध्याय -)।

अतिथि ने आगे कहा–जहां प्रजापति ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, उस नैमिषारण्य में गोमती नदी के तट पर नागपुर नामक एक नगर है। वहां पद्मनाभ नाम का एक नागराज रहता है। वह कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों की साधना करता है और सभी प्राणियों के साथ सुंदर बरताव करता है। वह साम, दान, दंड, भेद से प्रजापालन और उनकी रक्षा करता है। वह स्वयं मन-इंद्रियों पर संयम रखता है। वह समदर्शी पुरुष है। तुम उसी के पास जाओ। वह अच्छा रास्ता बताएगा, मिथ्या धर्म नहीं बतायेगा। वह बुद्धिमान, शास्त्रों का पंडित, अतिथि-सत्कार करने में निपुण तथा सभी सद्‌गुणों से संपन्न है। उसका स्वभाव जल की तरह शीतल और सरल है। वह सदैव स्वाध्याय में रत, तपशील, संयमी तथा उत्तम आचार-विचार वाला है। इतना ही नहीं, वह यज्ञ करने वाला, दानियों में शिरोमणि, क्षमाशील, श्रेष्ठ सदाचार वाला, सत्यवादी, परदोषदर्शन से रहित, शीलवान तथा इंद्रियजित है। वह अतिथियों को खिलाकर खाता है, मिष्टभाषी और सरल है। वह कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञाता, किसी से वैर न करने वाला, सबके हित में लगा रहने वाला तथा गंगा-जल के समान निर्मल मन का है (अध्याय)।

गृहपति ब्राह्मण ने कहा–मेरे मन का भारी बोझा आपने उतार दिया। आपकी बात शांतिप्रद है। थके राही को शय्या, खड़े रहने से थके मनुष्य को बैठने का आसन, प्यासे को पानी, भूखे को भोजन, अभीष्ट वस्तु का मिलना, बुढ़ापे में पुत्र की प्राप्ति, प्रिय मित्र का मिलना, अंधे को आंखें आ जाने के समान आपके वचन मुझे प्रिय लगे। मैं आपकी राय के अनुसार करूंगा। ब्रह्मन! सूर्य डूब रहा है, शाम आ गयी है, अतएव आज आप यहीं निवास कीजिए। वे वहीं रात भर रहे। मोक्षधर्म की बात करते उनकी रात बीती। प्रातः गृहपति से सम्मानित होकर अतिथि चला गया। इसके बाद गृहपति ब्राह्मण परिवार से अनुमति लेकर नैमिषारण्य नागराज के नगर चल दिये (अध्याय)।

ब्राह्मण अनेक गांव, नगर, वन, नदी आदि पार करते हुए, बीच में एक मुनि के आश्रम पर पहुंचकर और उनसे रास्ता जानकर चलते-चलते नागराज के घर पहुंच गये। 'भोः' शब्द से विभूषित वचन बोलकर पुकारा–कोई है! मैं आपसे मिलने आया हूं। नागराज की पत्नी निकली। उसने ब्राह्मण का स्वागत किया और कहा–क्या सेवा करूं?

ब्राह्मण ने कहा–आपने मीठे वचनों से मेरा स्वागत किया, इससे मेरी थकावट दूर हो गयी। मैं आदरणीय नागराज का दर्शन करना चाहता हूं।

नागपत्नी ने कहा–मेरे सम्माननीय पतिदेव सूर्यदेव का रथ ढोने के लिए गये हैं। हर वर्ष एक बार एक महीना तक यह काम उन्हें करना पड़ता है। पंद्रह दिन बीत जाने पर वे यहां दर्शन देंगे। अतिथि देव! नागराज के दर्शन के अलावा जो सेवा मेरे योग्य हो, वह बताने की कृपा करें। ब्राह्मण ने कहा–नागराज के दर्शन का ही मेरा प्रयोजन है। उनके आने तक मैं वन में गोमती तटपर निवास करूंगा। उनके आने पर तुम्हें उनसे इस ढंग से कहना चाहिए जिससे वे मेरे पास आकर मुझे दर्शन दें (अध्याय)।

ब्राह्मण गोमती तट पर बिना खाये निराहार रहने लगा। उसके भोजन न करने से नागों का परिवार बहुत दुखी हुआ। नागराज के भाई-बंधु, स्त्री-पुत्र मिलकर ब्राह्मण के पास गोमती तट पर गये। उन्होंने ब्राह्मण से कहा–आप छह दिन से निराहार बैठे तप कर रहे हैं। आप हमें भोजन लाने के लिए आज्ञा भी नहीं दे रहे हैं। अतिथि-सत्कार हम गृहस्थ का धर्म है। हम आपके लिए फल, मूल, साग, दूध, अन्न आदि लाना चाहते हैं। आप उन्हें अवश्य ग्रहण करें। आप भोजन छोड़कर इस वन में पड़े हैं। इस बात को लेकर हम पूरे परिवार के लोग दुखी हैं। हमारे घर में न गर्भ हत्यारा है, न असत्य बोलने वाला है और न अतिथि को खिलाये बिना कोई खाने वाला है।

ब्राह्मण ने कहा–आपके इस सद्व्यवहार तथा वचनों से ही मैं तृप्त हूं। अब नागराज के आने में केवल आठ दिन शेष हैं। यदि वे आठ दिन के बाद भी नहीं आयेंगे, तो मैं भोजन कर लूंगा। उनके आने के संबंध में मैंने निराहार का व्रत लिया है। आप इसे भंग न करें, अपितु सुखपूर्वक घर लौट जायं। ऐसा कहने पर नागराज का परिवार असफल होकर घर लौट गया। (अध्याय)।

आठ दिन बीतने पर नागराज घर पधारे। पत्नी ने स्वागत किया। नागराज ने पत्नी से पूछा–मेरे न रहने पर तुमने घर पर आये हुए सज्जन तथा अतिथियों का यथावत सत्कार किया न? कोई कसर तो नहीं रखी?

नागपत्नी ने कहा–शिष्यों का धर्म है गुरु की सेवा करना, ब्राह्मण का धर्म है वेदों का अध्ययन तथा उसमें आये हुए सद्गुणों का आचरण करना, सेवकों का धर्म है स्वामी की आज्ञा का पालन करना, राजा का धर्म है प्रजा का पालन एवं संरक्षण करना। गृहस्थ का धर्म है सभी प्राणियों के साथ सुंदर बरताव करना। संतुलित आहार करना और अपने व्रत का पालन करना सबका धर्म है। धर्म-पालन से ही मन-इंद्रियों की पवित्रता होती है। 'मैं किसका हूं, कहां से आया हूं, मेरा कौन है और इस जीवन का प्रयोजन क्या है?' इस प्रकार विचारकर अपनी असंगता में रहना संन्यासी का धर्म है। पत्नी का तो धर्म है

पातिव्रत्य। आप धर्मपरायण हैं, यह जानकर भी मैं धर्म-कार्य में शिथिल कैसे हो सकती हूं? एक नयी बात है। एक ब्राह्मण देव आपके दर्शन के लिए आये हैं और वे गोमती तट पर वन में पंद्रह दिन से निराहार बैठे हैं। वे मुझसे अपना कोई काम नहीं बता रहे हैं, केवल आपका दर्शन चाहते हैं। उन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा करा ली है कि नागराज के आते ही उन्हें मेरे पास भेज देना (अध्याय)।

नागराज ने कहा–देवि! वे ब्राह्मण हैं कि कोई देवता? कौन मनुष्य है जो मुझे देखना चाहता है और इसके लिए मुझे आज्ञा देकर अपने पास बुला रहा है? हम नागवंशी हैं, असुरों और देवर्षियों के लिए भी वंदनीय हैं। हम भी अपने सेवक को वर देने वाले हैं।

नागपत्नी ने कहा–पतिदेव! उन ब्राह्मण की सरलता से मैं यही कह सकती हूं कि वे देवता नहीं, मनुष्य हैं। उनकी सबसे बड़ी बात है कि वे आपके भक्त हैं। जैसे पपीहा वर्षा का रास्ता देखता है, वैसे वे आपकी बाट जोहते हैं। आप उत्तम कुल में उत्पन्न शुद्ध संस्कारी हैं। आप ऐसे अतिथि की उपेक्षा करके घर में कैसे बैठे रहेंगे? जो आश लगाये हुए शरण में आया हो, उसके आंसू जो नहीं पोंछता, उस राजा या गृहस्थ को भ्रूणहत्या का पाप लगता है। मौन रहने पर आत्मज्ञान का फल मिलता है, दान करने से यश बढ़ता है, सत्य बोलने से लोक-परलोक बनते हैं, भूदान करने से उत्तम गति मिलती है और न्यायपूर्वक धन कमाने वाला प्रसन्नता का फल पाता है। पाप से रहित रुचिकर कर्म करके कल्याण होता है।

नागराज ने कहा–साध्वि! मेरा अहंकार नहीं है, जातिदोष है; किंतु तुम्हारी विवेकपूर्ण शीतल वाणी से वह शांत हो गया। क्रोध के लिए सर्प ही अधिक बदनाम है, किंतु क्रोध के समान व्यामोहित करने वाला दूसरा दोष नहीं है। क्रोध के कारण रावण राम से मारा गया। क्रोध से ही परशुराम ने सहस्रार्जुन को मार डाला। तुम्हारी विवेकपूर्ण बात सुनकर इस साधना-तपस्या के शत्रु और कल्याणमार्ग से भ्रष्ट करने वाले क्रोध को मैंने अपने वश में कर लिया। मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि तुम जैसी सद्गुणवती पत्नी मुझे मिली है। अब लो, मैं ब्राह्मण के पास गोमती तट पर जाता हूं (अध्याय)।

जाकर नागराज ने कहा–ब्राह्मणदेव! आप क्षमा करें। मैं अनुपस्थित था। आप सेवा बतायें। आप इस गोमती तट पर किसकी उपासना करते हैं?

ब्राह्मण ने कहा–मैं आपकी प्रतीक्षा में यहां बैठा वेदों का पाठ करता हूं। नागराज ने कहा–मुझे आप सेवा बताइए। आपने अपने सद्गुणों से मुझे खरीद लिया है। आप तो हमारे हितचिंतक हैं।

ब्राह्मण ने कहा–मैं आपके ही दर्शन के लिए यहां आया हूं। मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूं जिसे मैं नहीं जानता हूं। "विषयों से हटकर आत्मा की जो परम गति है–आत्मा द्वारा आत्मा में स्थित हो जाना, मैं उसी साधना की खोज में हूं, परंतु बहुत बुद्धिमान होकर भी घर–गृहस्थी में आसक्त होकर चंचलचित्त की उपासना करता हूं।"

आप चंद्रमा की निर्मल प्रभा के समान स्वतः प्रकाशित, सुयशसंपन्न तथा मनोरम सद्‌गुणयुक्त हैं। नागराज! इस समय मेरे मन में एक नया प्रश्न उठ रहा है। आप पहले उसका समाधान करें। उसके बाद मैं अपना मुख्य प्रयोजन कहूंगा। और उसे ध्यान से सुनियेगा (अध्याय)।

ब्राह्मण ने कहा–हे नागराज! आप सूर्य के एक पहिया को खींचने के लिए बारी–बारी जाते हैं। यदि आप वहां कोई आश्चर्यजनक घटना देखते हों तो उसे बताने की कृपा करें।

नागराज ने कहा–भगवान सूर्य अगणित आश्चर्यों के स्थान हैं। उन्हीं की प्रेरणा से सभी प्राणी अपने–अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। जैसे वृक्ष की अनेक शाखाओं पर पक्षी निवास करते हैं, वैसे सूर्य की हजारों किरणों पर देवता, सिद्ध तथा मुनि निवास करते हैं। महान वायु सूर्य–मंडल से निकलकर और सूर्य की किरणों का आधार लेकर आकाश में फैलते हैं। इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा? सूर्य उस वायु को अनेक भागों में बांटकर वर्षाऋतु में पानी बरसाते हैं। सूर्यदेव आकाश में स्थित होकर सारे संसार का निरीक्षण करते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा? मेघ सूर्य की ही प्रेरणा से पानी बरसाते हैं। सूर्य चार महीने पृथ्वी पर पानी बरसाते हैं और इसके बाद आठ महीने पृथ्वी का पानी ऊपर खींचते हैं, यह आश्चर्य ही है। सूर्य में ही नारायण निवास करते हैं, यह आश्चर्य ही है। सूर्य में मैंने एक बड़ा आश्चर्य देखा कि एक दूसरा सूर्य जैसा प्रकाशवान पुरुष इस तपते हुए सूर्य में प्रवेश करने लगा। सूर्य ने उस तेजोमय पुरुष का दोनों हाथ बढ़ाकर स्वागत किया, तो उस पुरुष ने भी अपना दाहिना हाथ बढ़ाकर सूर्य का आदर किया। इसके बाद वह तेजोमय पुरुष सूर्य में प्रविष्ट होकर उससे एक रूप हो गया। हम लोगों को संदेह हुआ कि इन दोनों में असली सूर्य कौन है? हमने सूर्य से पूछा–भगवन! ये जो दूसरे सूर्य के समान पुरुष आये थे, ये कौन थे? सूर्य ने कहा–ये न अग्नि थे, न असुर थे और न नाग थे। ये वे मुनि थे

. **अहमात्मानमात्मस्थो मार्ग माणोऽऽत्मनो गतिम्।**
वासार्थिनं महाप्रज्ञं चलच्चित्तमुपास्मि ह ,

जिन्होंने उंछवृत्ति से जीवन-निर्वाह कर साधना की थी। वे ही सिद्ध होकर तेजोमय हो गये, अतएव वे दिव्य धाम में आ पहुंचे हैं। ये ब्राह्मण देवता फल, मूल, सूखे पत्ते, हवा तथा पानी से निर्वाह कर ध्यानमग्न रहते थे। ये असंग रहकर सांसारिक कामनाओं से मुक्त थे। ये उंछवृत्ति और शिलवृत्ति से निर्वाह कर समस्त प्राणियों की कल्याण-कामना करते थे। ऐसे लोगों को जो उत्तम गति प्राप्त होती है, उसे देवता, गंधर्व, असुर, नाग कोई नहीं पा सकता। सूर्यमंडल में मुझे यह आश्चर्य दिखायी पड़ा कि उंछवृत्ति एवं शिलवृत्ति वाला यह मुनि अब सूर्य में रहकर पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा करता है (अध्याय -)।

ब्राह्मण ने कहा–सचमुच यह आश्चर्यजनक घटना है। मेरे मन में जो आकांक्षा थी, वह पूरी हो गयी। आपका मंगल हो। अब मैं यहां से चला जाऊंगा। यदि आपको मेरी कोई आवश्यकता हो, तो मुझे याद कीजिएगा।

नागराज ने कहा–आपने अपनी मुख्य बात तो बतायी ही नहीं। जिसके लिए आप यहां आये हैं, उसे बतायें। आप कहें या नहीं, जब आपका काम बन जाय, तब आप मुझसे पूछकर जायं। आपका मुझसे प्रेम है, तो आप पेड़ के नीचे बैठे-बैठे मुझे केवल देखकर राहगीर की तरह चले न जायं। आप में मैं हूं और मुझ में आप हैं। यह सारा लोक आपका है। मेरे रहते हुए आपको कोई चिंता नहीं होना चाहिए।

ब्राह्मण ने कहा–महाप्राज्ञ नागराज! यह निश्चित है कि मैं, आप और सभी प्राणी सदैव जिसमें स्थित हैं वही आप हैं, वही मैं हूं। जो मैं हूं वही आप हैं। मुझे संदेह था कि मैं कौन-सा साधन अपनाऊं। अब संदेह दूर हो गया। अब मैं उंछवृत्ति एवं शिलवृत्ति अपनाकर रहूंगा। आपके द्वारा मेरा कार्य संपन्न हो गया। आपका मंगल हो। अब मैं आप से जाने की अनुमति चाहता हूं (अध्याय)।

इसके बाद वह ब्राह्मण उंछवृत्ति की दीक्षा लेने के लिए च्यवन ऋषि के पास गया। उसने यह कथा च्यवन ऋषि से भी कही। वह च्यवन ऋषि से दीक्षा पाकर साधना में लग गया। च्यवन ने यह कथा राजा जनक के दरबार में नारद जी से कही। नारद ने यह कथा इंद्र के दरबार में कही। इंद्र ने यह कथा ब्राह्मणों के बीच में कही। भीष्म ने कहा कि यह कथा मुझे वसुओं ने सुनायी थी। युधिष्ठिर! मैंने यह कथा तुम्हें सुनायी।

आगे भीष्म ने कहा–युधिष्ठिर! वह ब्राह्मण नागराज से अपने कर्तव्य का ज्ञान पाकर दूसरे वन में जाकर उंछवृत्ति और शिलवृत्ति से रहकर तथा अल्प

भोजन लेकर यम-नियम का पालन करते हुए साधना में लग गया (अध्याय)।

मीमांसा

चौदह अध्यायों और एक सौ उन्यासी श्लोकों में उंछवृत्ति और शिलवृत्ति की महिमा बताने के लिए कुछ साधार तथा कुछ निराधार कहानियां गढ़ी गयी हैं। अन्नमंडी का बाजार उठ जाने के बाद वहां पर गिरे हुए अन्न के दानों को तथा फसल कटकर उठ जाने के बाद खेत में गिरी हुई अन्न की बालियों को उठाकर उनसे अल्प-भोजन करने को क्रमशः उंछवृत्ति तथा शिलवृत्ति कहते हैं।

सूर्य दहकता हुआ आग का गोला है। न वह रथ पर चलता है और न उसके रथ के पहिए को किसी नागराज को खींचना पड़ता है। उंछवृत्ति और शिलवृत्ति से रहने वाले साधक न ज्योतित रूप होकर सूर्य में जायंगे। इस उंछवृत्ति तथा शिलवृत्ति की कथा एक दूसरे से सुनकर कितने लोगों ने कही, यह भी मिथ्या महिमा है। आज उंछवृत्ति और शिलवृत्ति से कोई नहीं रहता।

कहानी बड़ी मीठी है। जो उसमें गृहस्थ धर्म और साधक के सद्‌गुणों का वर्णन है वह बड़ा प्रेरक है। यहां ब्राह्मण से नागवंशी नागराज को ऊंचा सिद्ध किया गया है। यह कथन की उदारता है। यहीं पर शांति पर्व पूरा होता है।